कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

आत्मनिवेदन

ज्ञानका सन्देश तो सभी देते हैं, पर प्रभावशाली वही होता है जो कर्तव्य-निष्ठ अधिकारी पुरुषकी सूनृता वाणीसे दिया जाता है। साधक पुरुषकी साधना उस सन्देशपर पड़े मायिक आवरणको हटा श्रोताके अन्तरमें अपने दिव्य-रूपमें उसे प्रकाशित करती है। पूज्य गुरुदेव श्री श्रीधर स्वामीजी महाराजका प्रस्तुत सन्देश भी इसी प्रकारका है। चातुर्मास्यव्रतकी कठिनतम एकान्त-साधना और वाक्संयमके बाद पहलीबार एकमात्र लोक-कल्याणकी दृष्टिसे सहजतः उन्होंने यह सन्देश दिया, यही इसकी प्रधान विशेषता है। गुरुदेवके शिष्योंके लिए तो यह आध्यात्मिक शासनादेश ही है।

महाराजका इसबारका चातुर्मास्य कर्नाटक प्रदेशके जिला शिमोगाकी तहसील सागरके अन्तर्गत 'वद्याल्ली' गाँवकी एक पहाड़ीपर हुआ। फलतः उनका चातुर्मास्य समाप्तिका यह सन्देश पहलीबार उसी प्रादेशिक भाषामें प्रचारित हुआ। फिर महाराष्ट्रके अपने भक्तोंके आग्रहपर महाराजने स्वयं उसे मराठीमें परिष्कृतकर प्रचारित कराया। किन्तु उत्तर भारतके उनके भक्त और राष्ट्रभाषा-भाषी अबतक इस लाभसे वञ्चित रहे। कारण महाराजने इस वर्ष चातुर्मास्यके बाद भी अभीतक पुनः महीनों एकान्त और मौनव्रत रखा था। भक्तोंके विशेष आग्रहपर गुरुदेवने इस जनपर इसके हिन्दीकरणका भार सौंपा और आज श्रीसमर्थ रामदासजीकी पुण्यतिथिके पवित्र दिन यह जन इसे पाठकोंके हाथमें भेंट कर रहा है।

इस सन्देशमें आर्यसंस्कृतिके समग्र तत्त्वोंपर श्रुति, स्मृति, उपनिषद्के विभिन्न वाक्योंके साथ उदार और मूलग्राही विचार उपस्थित करते हुए गुरुदेवने जहाँ मानवमात्रका अपने मुख्यधर्म आनन्दमय स्वात्मदर्शनके लिए आह्वान किया वहीं उन्हें बार-बार सचेत भी किया है कि अपने-अपने वर्णाश्रम धर्मोंका पालन ही सच्चा विवेक है। निरूपणके प्रसङ्गमें सहजतः आजके अनेक धार्मिक,

सामाजिक प्रश्नोंका मार्मिक समाधान भी हो गया है। विषयके उपपादनमें इसमें विशेषकर समर्थ श्रीरामदास स्वामी महाराजके उपदेशवाक्योंको आधाररूपमें उपस्थित किया गया है जो गुरुदेवके सम्प्रदायके परमाचार्य हैं। समर्थके ये वाक्य बड़े ही मार्मिक और मननीय हैं। दिव्यसन्देशके इस हिन्दी अनुवादमें इन सबके साथ ही श्रीगोस्वामी तुलसीदास, सूरदास और सन्त कबीरके वचन भी गुरुदेवके आदेशानुसार यत्र-तत्र प्रसंगतः जोड़ दिये गये हैं।

अनेक कठिनाइयोंके कारण दिव्य-सन्देशका प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद अति-शीघ्रतामें करना पड़ा और उसके संशोधन-प्रकाशनमें तो उससे भी अधिक जल्दबाजी हुई, तभी आज यह पाठकोंके हाथ पड़ रहा है। अतएव इसमें अनेक तरहकी त्रुटियाँ संभाव्य हैं। मेरी अज्ञता और विषयकी गंभीरता अलग है। फिर भी गुरुदेवके मूल-सन्देशका पूरा भाव बनाये रखनेमें यथाबुद्धि सतर्कता बरती है। इसपर भी जो भूलें हो गयी हों, कृपालु पाठक उन्हें मेरी मान, क्षमा-कर इसका सार ही ग्रहण करेंगे।

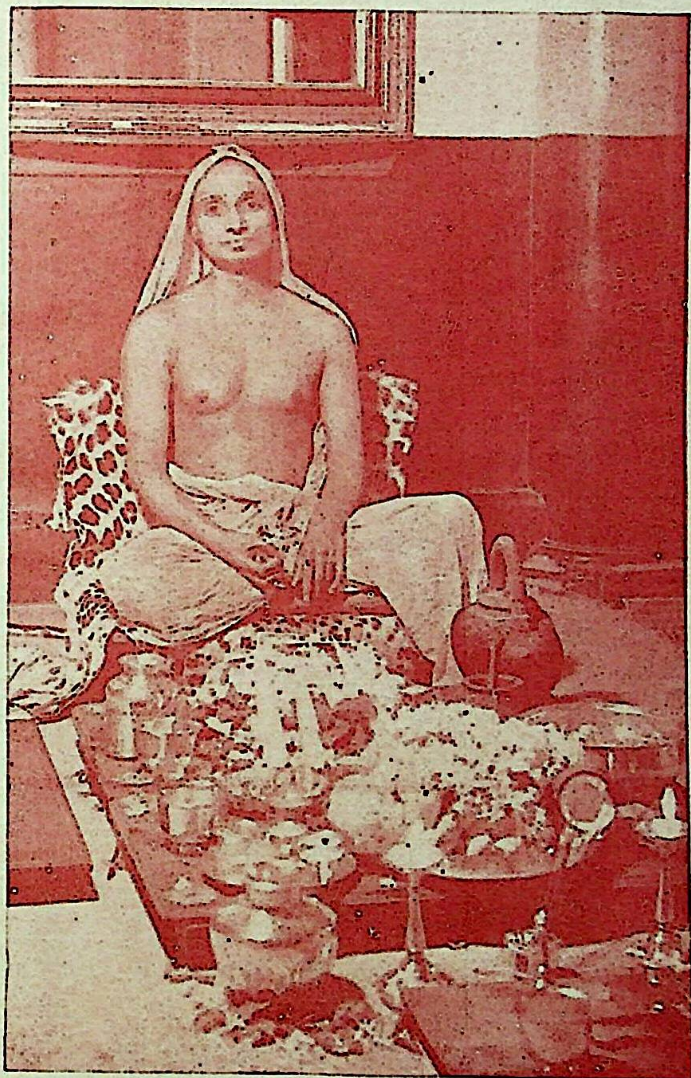
सन्देशके प्रकाशनमें हमारी श्रद्धेया गुरुभगिनी सौ० सावित्री बाई भागवतने जो अमूल्य प्रेरणा और सहयोग दिया तदर्थ हम उनके चिरकृतज्ञ हैं। पुस्तकके मुद्रणमें 'आर्यभूषण-प्रेस' ने जो आत्मीयतापूर्ण सहयोग दिया तदर्थ हम उसके आभारी हैं। अन्तमें जिन सद्गुरुकी कृपासे यह उन्हींका कार्य बन पड़ा, उन्हींके चरणोंमें सादर श्रद्धाञ्जलि समर्पितकर उनके चरणोंमें भी अपनी त्रुटियोंके लिए क्षमाप्रार्थनाके साथ यह आत्मनिवेदन पूर्ण करता हूँ।

दासनवमी, २०११ वि०
काशी

विनीत
गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

विषयानुक्रमणिका

श्री परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीधरस्वामी महाराज



सज्जनगड



आर्य-संस्कृतिका दिव्य संदेश

निज - किरण - विकासितं जगत्
गमयति निजसौख्यमद्वयं यत् ।
सुखशरधि - भवांशुमानयं
जगति विजयतेऽत्र विश्वधर्मः ॥

एकमात्र निजकिरणों द्वारा विकसित अखिल विश्वको अपने अद्वितीय सुखकी ओर ले जानेवाला और आनन्दसिन्धुसे समुद्भूत विश्वधर्मरूप यह सूय अनुपमेय तत्त्वबोधरूप अपनी किरणोंसे विश्वको प्रकाशित करता और अपने ही प्रकाशसे स्वयं भी सदैव प्रकाशित होता आ रहा है। विश्वभर उसकी विजयदुन्दुभिका मधुर नाद गूँज रहा है। सर्वत्र उसका जयजयकार हो रहा है।

धर्मध्वजका आश्रय

सचमुच परमात्माकी महिमा अपार है। वह नित्य मंगलमय और आनन्दघन है विश्वभर अपना निरतिशय वैभव फैलानेवाला वही परमात्मा स्वधर्म-रक्षाकी दिव्य स्फूर्तिसे अज्ञान-क्षितिजसे ऊपर उठता चला आ रहा है। परम प्रिय स्वधर्मका उन्नत ध्वज अपने हाथों ऊपर उठा रहे प्रभुकी वह लुभावनी झांकी कितनी भली दीखती है! अपनी

सुशान्त चैतन्य-किरणोंसे सबको प्रमुदितकर, वरदहस्तसे अखिल विश्वको अभय दे रहे उस जगदीश्वरकी रूपमाधुरीकी ओर किसकी दृष्टि बलात् आकृष्ट न होगी ? परमात्माके इस अतुल रूपका कौन वर्णन कर सकता है ?

'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे'

क्या भगवान्का यह आश्वासन नहीं कि युग-युग धर्मसंस्थापनाके लिए ही मैं अवश्य अवतार लेता हूँ ? फिर कैसे वह अपना यह वचन झूठा होने देगा ? परमात्मा द्वारा फहराये गये इस धर्म-ध्वजका आश्रय लेना, इसके नीचे आना कौन न चाहेगा ? चिलचिलाती धूपसे झुलसता जा रहा कौन मानव छाहकी शरण न लेगा ? प्याससे प्राण निकलनेवाले किस तृषातुरको अमृतोपम सरोवरका मिलना अरुचिकर प्रतीत होगा ? चैत-बैसाखकी भरी दुपहरीमें पैदल चलकर भूखसे व्याकुल किसी यात्रीको दैवात् रास्तेमें सुस्वादु अन्न बांटनेवाला कोई अन्न-क्षेत्र मिल जाय तो क्या वह उसे छोड़ कभी आगे बढ़ेगा ? किसी धनलोभीके पास नवनिधियां पैदल चलकर पहुँचें तो क्या वह उन्हें 'ना' कहेगा ? आखिर अमृत किसे नहीं चाहिये ? यदि सर्वाधिक सुख हाथ लगता हो तो कौन उसे न चाहेगा ?

आर्यधर्म ही विश्वधर्म

सांसारिक विषय-सुखोंकी ठगीका शिकार हो सर्वस्व लुटी और सांसारिकतापरूप दावानलमें पड़कर और भी हताश हुई दीन-हीन जनताको देख प्राचीन ऋषि-मुनियोंका हृदय निरुपाधि करुणासे भर उठा। फलतः उन्होंने स्वाभाविक कृपावश उसे धैर्य बँधाया और अनेकानेक युक्तियों द्वारा उस तापसे छुड़ा, शान्तिके सागर परमात्माकी ओर ले गये। इन्हीं ऋषि-मुनियोंको भगवती ऋक्-श्रुति सम्बुद्ध करती है— 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।' वह इनका यशोगान करती कहती है कि ये

ऋषि-मुनि अखिल विश्वको अपनी ही तरह श्रेष्ठकर दिखाते हैं। 'सर्वेऽप्यानन्दमाप्नुयुः'—इनकी एकमात्र यही वासना रहती है कि सभी लोग परमात्माका वह शाश्वत और अपार आनन्द प्राप्त करें। 'आर्य' शब्दका अर्थ ही है—'श्रेष्ठ'। समर्थ रामदास स्वामी लिखते हैं—

'श्रेष्ठ भोगीं ते श्रेष्ठ। कनिष्ठ भोगीं ते कनिष्ठ।'

श्रेष्ठ या सर्वोच्च वस्तुका उपभोग करनेवाले श्रेष्ठ और कनिष्ठ या निम्न वस्तुओंका उपभोग करनेवाले कनिष्ठ होते हैं। गोस्वामी श्री तुलसी दासजी भी कहते हैं—

'भलो भलाई पै लहहिं, लहहिं नोचाई नीच।'

श्रेष्ठोंका सुख भी श्रेष्ठ ही हुआ करता है। 'एषोऽस्य परमानन्दः'—स्वयं श्रुति कहती है कि नित्य निरञ्जन परमात्मा ही श्रेष्ठोंका परम आनन्द है। समर्थ लिखते हैं—

'नाना फळें पक्षी खाती। तेणेंचि तयां होय तृप्ति।
परि त्या चकोराच्या चित्तीं। अमृत वसे॥'

अनेक पक्षी विविध फल खाते और उन्हींसे उनकी तृप्ति भी हो जाती है, पर चकोरका चित्त ~~स्वातीकी~~ चन्द्रामृत बूँदसे ही तृप्त होता है। गोस्वामीजी भी कहते हैं—

'मुख मीठे मानस मलिन, कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल, रह्यौ भुवन भरि तोर॥'

श्रेष्ठोंका धर्म भी श्रेष्ठ ही हुआ करता है। अतएव आर्यों के इस धर्मको 'आर्यधर्म' या 'श्रेष्ठ-धर्म' कहा गया है। स्वभावतः सभी यह चाहते हैं कि सारी दुनिया हम जैसी ही हो जाय। और इसी दृष्टिसे स्वयं श्रेष्ठ होनेके कारण आर्य भी अखिल विश्वको अपनी ही तरह श्रेष्ठ बनानेकी महत्त्वाकांक्षा रखते थे, जो आज भी उनके वंशजोंमें पायी जाती है। ऋग्वेदके शब्दोंमें आर्य ऋषि-मुनि भगवान्से सदैव यही

कामना करते और आज भी उनके वंशज यही मनाया करते हैं— 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः'—सबके विषयमें सदैव शुभ वार्ता ही हमारे कानोंमें सुनायी दे। 'भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः'—सदैव सभीका कल्याण हम लोग आँखें भरकर देखें, सदैव सभीका जीवन दिव्य आनन्दमय दिखाई पड़े। 'मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्'—दुःख नामकी चीज ही किसीको न हो।

'शुभमस्तु सर्वजगतः,
परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं,
सर्वजनोऽयं सदा सुखी भवतु॥'

आर्य सदा यही चाहते हैं कि अखिल विश्वका कल्याण हो, सभी सदैव परहितमें लगे रहें, सभीके दोष समूल नष्ट हो जायँ और अखिल विश्व सुखसे रहे। एकमात्र इसी लक्ष्यसे वे तप करते थे और आज भी वही क्रम जारी है।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'—भगवान् मनुके शब्दोंमें इस आर्य-धर्मका मूल वेद ही है। अतएव इसे 'वैदिकधर्म' भी कहा जाता है। 'सना आतनोतीति सनातनः'—चूँकि यह धर्म अतिप्राचीन होकर सर्वत्र शाश्वत सुखका ज्ञान प्रसारित करता है, इसलिए इसे 'सनातन-धर्म' भी कहते हैं। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'—महर्षि कणादने 'धर्म' की व्याख्या करते हुए कहा है 'अखिल मानवोंके अभ्युदय और निःश्रेयस्‌का कारण यह धर्म ही है।' धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'—महानारायणोपनिषद्‌में कहा है कि विश्वकी प्रतिष्ठा या सुस्थितिका एकमात्र कारण यही आर्यधर्म है, और इसीलिए वेदादि इसकी प्रौढिमा (बडप्पन) की दुन्दुभि (नगाड़ा) बजाते हैं। सारांश, यतः इस धर्मके अनुयायियोंमें विश्वोन्नतिकी महत्त्वाकांक्षा पायी जाती है, इस धर्मके उपदेशक आचार्योंने इसका विश्वव्यापक

धर्मके रूपमें व्याख्यान किया है, वेदोंने इसका लक्ष्य विश्वका धारण-पोषण ही घोषित किया और यह एकमात्र मानवोंके उद्धारार्थ परमेश्वर द्वारा चलाया गया है, इसलिए यही एक 'विश्वधर्म' कहा जा सकता है।

इह-पर-सुखका मार्ग

यह आर्यधर्म जिस देशमें प्रचलित है उसका नाम 'आर्यावर्त' है। भगवान मनुका यह वचन मननीय है—

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्ष्येरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥'

यहाँ 'अग्रजन्मा' शब्दका अर्थ है परमात्माके मुखसे प्रथम उत्पन्न ब्राह्मण वर्ण, कारण श्रुति कहती है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'—(ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्ति सर्वप्रथम परमात्माके मुखसे ही हुई)। इस तरह आर्यचक्रवर्ती महाराज मनुके उपयुक्त शासन (आदेश) का अर्थ यह है कि इस आर्यावर्तमें अवतरित ब्राह्मण वर्ग द्वारा शुद्ध चारित्र्यके जो पाठ पढ़ाये गये हैं, अपने अभ्युदय और निःश्रेयस्का ध्यान रखते हुए तत्तत् देशके सभी मानव या अखिल विश्वके लोग उसे घोटते रहें अर्थात् उनका मननकर अनुकरण करें। 'आर्या अत्राऽऽवर्तन्त इति आर्यावर्तः'—'आर्यावर्त' शब्दका यौगिक (शब्दशक्तिगम्य) अर्थ भी यही है कि आर्य या श्रेष्ठ लोग जहाँ जन्म लेते हैं वह आर्यावर्त देश है। इसी आर्यावर्तके सम्बन्धमें प्रसिद्ध विदेशी विद्वान मैक्समूलर लिखते हैं—

'If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty, that Nature can

bestow in some parts a very paradise on the earth, I should point to India.

'If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has mostly deeply pondered over the greatest problems of life, and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India.

And if I were asked myself from what literature, we here in Europe, we who are nurtured almost exclusively on the thoughts of the Greeks and Romans, and of the Semitic Race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal, in fact, more truly human, a life not for this life only, but a transfigured and Eternal Life, again I should point to India.

अर्थात् "यदि मुझे एक ऐसे देशको— जो प्रकृतिप्रदत्त समस्त सम्पत्ति, शक्ति एवं सौन्दर्यसे परिपूर्ण हो, किम्बहुना जो इस पृथ्वीका कुछ अंशोंमें स्वर्ग ही हो—ढूँढ़नेके लिए इस विश्वपर एक दृष्टि डालनी पड़े तो मेरा केन्द्र-विन्दु भारत ही होगा।

"यदि मुझसे यह पूछा जाय कि विश्वमें मानव-मस्तिष्कके अधिकाधिक पवित्रतम, स्वच्छन्द विकासकी उत्कृष्टतम देन किस देशको प्राप्त हुई, और किस देशके निवासियोंने जीवनकी महती समस्याओंपर विचार किया तथा उनका निश्चित समाधान भी पूर्ण रूपसे प्राप्त किया,

जिसके लिए 'प्लेटो' और 'काण्ट' जैसे दार्शनिकोंकी रचनाओंके प्रेमी भी अपनेको अध्ययन करनेका अधिकारी मानते हैं, तो मेरा संकेत भारतके लिए ही होगा।

"और यदि मुझसे यह पूछा जाय कि यूरोपके हम सभी लोगोंने—जिनके आदर्श यूनानी और रोमन जातिकी विचारधारापर आश्रित हैं और यहूदी जातिसे भी जिन्हें प्रेरणा प्राप्त है—किस साहित्य द्वारा पूर्णता प्राप्त की, आन्तरिक रूपसे पूर्ण बनानेकी सर्वांशतः सार्वभौम और विकसनशील बननेकी प्रेरणा मिली है; ऐहिक ही नहीं, आमुष्मिक नित्य जीवनके लिए भी महत्वपूर्ण साहित्यसे देन मिली है तो मैं पुनः भारतकी ओर ही निर्देश करूँगा।"

इस तरह स्पष्ट है कि यह विश्वधर्म किसी अन्यसे उत्पन्न (संचालित) न होकर विश्वोत्पत्ति-कारण एकमात्र परमात्माके द्वारा संचालित है। इस अशाश्वत जगत्में एकमात्र शाश्वत वस्तु परमात्मा ही है। 'गीता'में भी कहा है—

'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥'

यहाँ 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ वेद है। चूँकि वेद परमात्मा द्वारा ही निर्मित हैं, इसीलिए उसने उसे अपने ही 'अव्यय', 'अमृत' आदि विशेषण यहाँ लगाये हैं। विश्वके लोगोंको यह दिखा देनेके लिए कि 'वेद-प्रणीत यह धर्म कभी नष्ट नहीं होता', भगवान्ने यहाँ इसे 'शाश्वत' शब्दसे सम्बुद्ध किया है। 'सुखस्यैकान्तिकस्य' इस पदसे यह दिखाया गया है कि इसी धर्मके द्वारा अद्वितीय आत्म-सुखकी प्राप्ति होती है। और 'इन सबका आधार मैं ही हूँ' यह बात 'प्रतिष्ठाऽहम्' शब्दसे व्यक्त की गयी है।

'श्रुतिस्मृत्युदितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।'

श्रुति और स्मृति द्वारा उपदिष्ट धर्म ही वास्तविक धर्म है।

और जो श्रतिस्मृतिबाह्य यानी श्रुति-स्मृतियों द्वारा न बताया गया और उसके विरुद्ध हो वह अधर्म है।

'श्रुतिस्मृतो ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्रोही नासौ भक्तो न मे प्रियः॥'

भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है कि श्रुति-स्मृति मेरी ही आज्ञाएँ हैं। जो इनका उल्लंघन करता है वह कभी भी मेरा भक्त नहीं और न मुझे प्रिय ही है, वस्तुतः वह मेरा द्रोही ही है।

'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥'

भगवान् मनुने भी कहा है कि जो कोई श्रुति एवं स्मृतियों द्वारा उपदिष्ट धर्मका निष्ठापूर्वक पालन करता है उसे इस लोकमें सब प्रकारकी कीर्ति प्राप्त होती ही है, अन्तमें मरनेके बाद पराकाष्ठाका सर्वोत्कृष्ट सुख मिलता है—निरतिशय सुख मोक्षकी प्राप्ति होती है।

वेद ही आत्मलाभका साधन

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति'—छान्दोग्योपनिषद्‌में कहा है कि सभी ब्राह्मण वेदवचनोंसे ही उस परमात्माको जाननेकी इच्छा करते हैं। नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'—तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है कि वेदज्ञानसे शून्य पुरुष उस अपार परमात्माका आकलन कर ही नहीं सकता।

'यद्वद् दृश्यावगतौ चक्षुरिवान्यन्न साधनं दृष्टम्।
तद्वददृश्यावगतौ वेदवदन्यो न वेद को हेतुः॥'

पूज्यपाद आद्य शंकराचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार दृश्य जगदादि-के दर्शनार्थ आंखोंको छोड़ अन्य कोई साधन नहीं, उसी प्रकार अदृश्य परमात्माको जाननेके लिए सिवा वेदके अन्य कोई साधन नहीं।

'देवपितृमनुष्याणां वेदचक्षुः सनातनम् ।'

भगवान् मनु कहते हैं कि न केवल मानवकी, प्रत्युत देव, पितर आदि सभीकी आंखें वेद ही हैं। वेदों के सहारे ही देवों और पितरोंने अपने अभ्युदय एवं निःश्रेयस्का मार्ग खोज निकाला।

'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ।'
'निःश्वासभूता मे विष्णोर्वेदाः जाताः सुविस्तराः ।'

उपर्युक्त बृहदारण्यक आदिके वचनोंसे स्पष्ट है कि ऋक्, यजुष् आदि वेद परमात्माके निःश्वास (श्वास-उच्छ्वास) ही हैं। 'वाग्विवृताश्च वेदाः'—परमेश्वरकी वाणी ही वेद है।

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
त॑ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥'

इस मन्त्रसे स्पष्ट है कि ये वेद हिरण्यगर्भ द्वारा विराट्को और विराट् द्वारा ब्रह्मदेवको दिये गये, उनके पास पहुंचाये गये। इससे इस की भलीभाँति पुष्टि हो जाती है कि वेदोंका आविर्भाव परमात्मा द्वारा ही हुआ। गोस्वामीजी भी कहते हैं—'जाकी सहज स्वांस स्रुति चारी।' यहाँ 'वेद' शब्दका अर्थ है—'सृष्टिनिर्माणका ज्ञान।' विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति, लय, पालन, नियमन आदिका परिज्ञान; जीवोंके अभ्युदय एवं निःश्रेयस्के विविध साधन, उनके लक्षण, अनेक योनियाँ, अनेक जातियों के नाम-निर्देश, उनके धर्म-कर्म आदि सभी विषय इन्हीं वेदोंमें आ जाते हैं। भला ऐसे सर्वज्ञ वेदको सिवा परमात्माके कौन रच सकता है?

'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक पृथक्
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥'

'मनुस्मृति' के इस श्लोकसे भी स्पष्ट है कि परमात्मा द्वारा वेदोंका और वेदों द्वारा अखिल सृष्टिका निर्माण हुआ है। यहाँ 'पृथक्संस्थाश्च

निर्ममे' इस पदसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न-भिन्न जातियाँ और उनके भिन्न-भिन्न कर्म परमेश्वरने ही निर्धारित किये, और यदि किसीको अपना आचार-विचार या धर्म-कर्म जानना हो तो एकमात्र प्रमाण वेद ही है।

'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।'

ब्रह्मसूत्र भी इसीकी पुष्टि करता है। 'वेद वदोनी मार्गी लाविले।'—समर्थ श्रीरामदास स्वामी भी यही कहते हैं कि परमात्मा ने वेद कहकर समस्त प्राणियों को अपने-अपने कर्मोंमें नियुक्त किया।

'यथा पूर्वमकल्पयत्।' 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता, य एवैक उद्भवे
सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति'

महानारायण और श्वेताश्वतर श्रुतियाँ स्पष्ट कहती हैं कि एकमात्र परमात्माने 'पूर्वकल्पकी तरह सृष्टिका निर्माण हो' यह संकल्पकर इस ब्रह्माण्डकी रचना की। एकमात्र परमात्मा ही जगत्का कर्ता (निर्माता) और पालक है। जो यह भलीभांति जान लेते हैं कि 'इस सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लय—तीनों अवस्थाओंमें एकमात्र शाश्वत या अनश्वर वस्तु परमात्मा ही है', वे मृत्युरहित परमात्मपदमें लीन हो जाते हैं अर्थात् मृत्युरहित परमात्मपद प्राप्त कर लेते हैं। 'अक्षरात् संभवतीह विश्वम्'—उस अविनाशी परमात्मासे ही विशाल विश्वकी उत्पत्ति हुई है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो स्पष्ट है कि सम्पूर्ण विश्वके लिए एक ही देव है। चूँकि परमेश्वरने वेदां द्वारा ही अखिल विश्वका निर्माण किया और उसमें विश्वके अभ्युदय एवं निःश्रेयसके साधन निहित हैं, इसलिए यह वेद अखिल विश्वका ही आद्य धर्मग्रन्थ सिद्ध होता है। अबतक बने और आज भी बन रहे सभी ग्रन्थोंमें इसी वेदका ज्ञान तत्तत् अधिकारानुसार संकलित किया और किया जा रहा है। यह सच है कि वेदोंके पठन-पाठनका अधिकार

ब्राह्मणोंको ही है, फिर भी उसका ज्ञान किसी न किसी रूपमें सर्वत्र व्याप्त ही है। यही कारण है कि गोस्वामीजी लिखते हैं—

'वन्दउँ चारिउ वेद, भववारिधि वोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहु खेद, बरनत रघुवर विसद जस॥'

'विदन्तीति वेदाः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'वेद वे ही हैं जो विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारका विचार जानते हैं, जो तत्तत् जातिके अनुसार तत्तत् व्यक्तियोंके अभ्युदय एवं निःश्रेयस्के निमित्त अखिल जीवोंको उपदेश देना जानते हैं। सारांश, देव, पितर, मनुष्य आदि सभी लोग जिनकी सहायतासे अपने-अपने कुल, जाति एवं जन्मके अनुकूल सर्वोत्कृष्ट ऐहिक जीवन और परमात्मैक्यरूप मोक्षका मार्ग जान पाते हैं उन्हींको 'वेद' कहते हैं। 'अनन्ता वै वेदाः'—काठकश्रुति कहती है कि वेद असंख्य हैं। वेदविदेव चाहम्'—भगवान् भी गीतामें श्रीमुखसे कहते हैं कि अखिल वेदोंका ज्ञान मुझे ही है। इतना ही नहीं, इन वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए भी परमात्माकी ही शरण जाना पड़ता है।

'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।'

भगवद्गीतामें कहा है कि आत्मज्ञान भी परमात्माके अनुग्रहसे ही प्राप्त होता है। परमात्मा द्वारा रचित इस सृष्टिको उसीके अधीन माननेसे कौन इनकार कर सकता है? "आत्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।' अतएव श्वेताश्वतर श्रुति कहती है कि मोक्षज्ञानकी इच्छा रखनेवाला मैं आत्मज्ञानके प्रकाशक उस परमात्माकी शरण जाता हूँ। 'स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु'—महानारायणोपनिषद्में कहा है कि आर्य ऋषि-मुनि अखिल मानवोंकी ओरसे भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि परमात्मा सदैव हम लोगोंको अपने स्वरूपकी शुभ स्मृतिसे युक्त करें, अर्थात् कभी परमात्मस्वरूपकी विस्मृति न होने दें।

आत्मज्ञानसे ही शाश्वत सुख

वेद सभीको 'अमृतस्य पुत्राः' (अविनाशी परमात्माके बच्चो !) कहकर सम्बुद्ध करता है। 'सोऽन्वेष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्यः'—बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंका आदेश है कि उस परमात्मको खोजो, उसे जानो, क्योंकि 'ज्ञात्वा देवं सवपाशापहानिः'—उस परमात्माको जान लेनेपर (प्राणीकी) सभी पाशों या बन्धनोंसे मुक्ति हो जाती है। 'ज्ञात्वा देवं हर्षशोकौ जहाति' मुण्डकोपनिषद्में कहा है कि इस परमात्माको जान लेनेपर जीव नश्वर सांसारिक हर्ष-शोक त्याग देता है।

'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।'

जो हृदयाकाशमें स्थित परमात्माको जानते हैं, उन्हींको शाश्वत सुख और आत्यन्तिक शान्ति मिलती है, दूसरोंको वह सुख-शान्ति सर्वथा दुर्लभ ही है। 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति, अथेतरे दुःखमेवापियन्ति' —जो अविनाशी परमात्मस्वरूपको जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं। और जो परमात्मस्वरूपको नहीं जान लेते वे कभी भी दुःखोंसे छुटकारा नहीं पाते। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' इसीलिए समस्त मानवोंको लक्ष्यकर श्रुति माता कहती है कि एकमात्र स्वरूपदृष्टिसे परमात्मज्ञानरूप साधन द्वारा मृत्युसे पार पा सकते हैं, इस जन्म-मरणरूप संसारचक्रसे छुटकारा पानेका इसके सिवा अन्य कोई साधन ही नहीं है। 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', 'तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति'—जो यह जानता है कि 'ब्रह्मरूप परमात्मा मैं ही हूँ', वह तद्रूप (ब्रह्मरूप) हो जाता है, वह सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है, उसकी देहात्मबुद्धिकी गांठ खुल जाती और निश्चय ही वह जन्म-मरणसे रहित हो जाता है।

'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे—
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥'

अतएव अखिल मानवजातिके नाम मुण्डक श्रुतिका सन्देश है कि जिस तरह नदियां अपना नाम और रूप त्याग, समुद्रमें मिलकर उसमें एकरूप हो जाती हैं ठीक उसी तरह आत्मज्ञानी भी आत्मज्ञान द्वारा नामरूपसे मुक्त होनेके साथ ही परिपूर्ण और सर्वोत्कृष्ट दिव्य परमात्मस्वरूपमें मिलकर उसमें एकरूप हो जाता है।

'ब्रह्मा विष्णु आणि हर। त्यांसी निर्मिता तोचि थोर।
तो ओळखावा परमेश्वर। नाना यत्नें ॥'

समर्थ रामदासजी कहते हैं कि जो ब्रह्मा, विष्णु और महेशका निर्माण करता है वही सबसे बड़ा है, विविध यत्नोंसे उसी परमेश्वरको पहचानना चाहिये। गोस्वामीजी भी कहते हैं—

'उपजहिं जासु अंश ते नाना। सम्भु बिरंचि बिष्णु भगवाना ॥'

यही बात 'श्वेताश्वरतर' श्रुति भी कहती है—

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

अर्थात् ऋषियोंने अखिल मानव-जातिके नाम आह्वान किया है कि जो ईश्वरका भी ईश्वर है, जो देवोंका भी देव है उस सर्वश्रेष्ठ, सर्वातीत, सर्वाधिक स्तुतियोग्य सत्यस्वरूप परमेश्वरकी शरण चलें।

सर्वसत्ताधीश परमात्मा

'यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिः'—महानारायणोपनिषद्में कहा है कि इसी एक परमात्मासे यह समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है और 'यत्र

विश्वं भवत्येकनीडम्'—अन्त में इसीमें यह सारा विश्व लीन हो जाता है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'—तैत्तिरीय श्रुति भी कहती है कि वह इस समस्त जगत्को उत्पन्नकर उसीमें प्रवेश करता है। 'न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद्यशः'—उसपर कोई भी अपना शासन नहीं चला सकता; उसमें यश, कीर्ति, बल, प्रताप आदि सभी कुछ सर्वाधिक है।

'न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चेशिता॥'

श्वेताश्वतर श्रुति भी कहती है कि इस अखिल सृष्टिका स्वामी परमात्मा है, उसका और कोई स्वामी नहीं, उसपर किसीका शासन नहीं चलता, वह अनन्त और असीम है, वह सबका कारण और सबका मूलभूत स्वरूप है, वह मन, इन्द्रिय आदि करणोंकी अधिदेवताओंपर शासन करता है तथा उसका कोई भी निर्माता नहीं है। 'आत्मनाऽऽत्मानमभिसंवभूव'—वह स्वयं ही अपने संकल्पसे रूप धारण करता है, इसीलिए उसे 'स्वयंभू' कहा जाता है। इस जगत्पर उसी एकका शासन चलता है।

'तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन'—उसीमें सभी लोकोंका अन्तर्भाव होता है, उसका उल्लंघन कर जाना किसीके लिए भी संभव नहीं। 'तेन कोऽर्हति स्पर्धितुम्'—इस जगत्में उससे समता या स्पर्धा कौन कर सकता है? 'एष भूतानामधिपतिः'—यही सम्पूर्ण भूतोंका स्वामी है। 'भुवनस्य नाथः'—यही समस्त जगत्का नाथ है। 'एष विश्वाधिपतिः'—यही समस्त विश्वका शासक है। 'स सर्वनेता भुवनस्य गोप्ता'—वही सम्पूर्ण जगत्का नेता और रक्षक है। 'भयादस्याग्निस्तपति। भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'—उसीके भयसे अग्निदेव अपना प्रकाश, ज्वाला आदि कार्य

प. प. श्री. गु. गो. धा.

करते और सूर्यदेव भी निश्चित समयपर उदित और अस्त होते हैं। इसीके भयसे इन्द्र अमरावतीका राज्य चलाता और नियत वृष्टि आदि कार्य करता है, हवा बहती और मृत्यु भी उचित समयमें प्राणियोंको ले जाती है। 'य ईशे अस्य द्विपदश्च चतुष्पदः'—पशु, पक्षी, मानव आदि सभीपर इसीका अधिकार है, इसी एकका शासन चलता है। अतः यौवन, विद्या, धन, शरीर-सम्पत्ति या शारीरिक बल, प्रभुत्व और राजमदसे अविवेकका शिकार हो कभी गर्वोद्धत न होना चाहिये। सदा ईश्वरके समक्ष विनीत ही रहना चाहिये।

'अभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च'

नारदभक्तिसूत्रमें कहा है कि भगवान् अभिमानसे द्वेष और दीनतासे प्रेम करते हैं।

'ईशोऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय'

एकमात्र परमात्मा ही इस जगत्‌का नियन्त्रण करता है, इसे छोड़ अखिल जगत्‌के नियन्त्रणरूप कार्यका और कोई कारण नहीं। अतः 'यह मैंने किया' या 'यह मैं करूँगा'—कभी ऐसा अभिमान न करना चाहिये। सूरदासजी भी कहते हैं—

'करी गोपालकी सब होय।
जो अपनो पुरुषारथ मानत अति मूरख है सोय॥'

गोस्वामीजी भी 'कवितावली' में लिखते हैं—

'अवनीस अनेक भये अवनी जिनके डरतें सुर सोच सुखाहीं।
मानव दानव देव सतावन रावण घाटि रच्यो जगमाहीं॥
ते मिलिये धरि धूरि सुजोधन जे चलते बहु छत्र की छाहीं।
वेद पुरान कहै, जन जान गुमान गोविंदहि भावत नाहीं॥'

'मी कर्ता ऐसे म्हणसी। तेणें तू दुःखी होसी।
राम कर्ता म्हणता पावसी। यश कीर्ति प्रताप॥'

श्रीसमर्थ भी कहते हैं कि यदि तुम कहोगे कि 'मैं कर्ता हूँ' तो दुःख ही पाओगे और यदि कहोगे कि 'भगवान् ही कर्ता हैं' तो यश, कीर्ति, प्रताप सब कुछ पाओगे। सारांश, उस परमात्माकी सत्तासे ही यह सारा जगत् संचालित होता है, विना उसकी सत्ताके—'पडलें पर्ण तेंही न हाले'—एक पत्ता भी हिल नहीं सकता। उसे छोड़ अन्य कोई भी न तो इस जगतका कारण है और न चालक। सृष्टि, स्थिति, लय, प्रवेश और नियमन—ये पांचों ईश्वरके ही कार्य हैं।

जगद्व्यापारवर्ज्यं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च' (ब्रह्मसूत्र),
जगदुत्पत्त्यादि व्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं
मुक्तानां भवितुमर्हति।' (शा० भा०)

अर्थात् मुक्तोंको अणिमा, महिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं, पर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति आदि कार्य एकमात्र ईश्वरके ही अधीन रहते हैं। विश्वामित्र आदि जैसे कितनी ही नवीन सृष्टियां क्यों न रचें, अन्ततः उन सबका समावेश या अन्तर्भाव ईश-सृष्टिमें ही हो जाता है।

परमेश्वरके अचिन्त्य कार्य

अहर्निशी ज्या भगवंतां। सकळ जीवांची लागली चिंता।
मेघ वरुषे जयाची सत्ता। सिंधु मर्यादा धरी॥
भूमि धरली धराधरें। प्रगट होईजे दिनकरें।
ऐसी सृष्टि सत्तामात्रें। चालवी जो कां॥
जेणें केलें चराचर। केले सृष्टयादि व्यापार।
सर्वकर्ता निरन्तर। नाम ज्याचें॥
तेणें केल्या मेघमाळा। चंद्रबिंबी अमृतकळा।
तेज दिधलें रविमंडळा। जया देवें॥
ज्याची मर्यादा सागरा। जेणें स्थापिलें फणिवरा।
जयांचेनि गुणें तारा। अन्तरिक्ष॥

चारी खाणी चारी वाणी। चौऱ्यांशी लक्ष जीवयोनि।
जेणें निर्मिले लोक तीन्हीं। तया नांव देव॥
सर्वकर्ता तोचि देव। पाहूं जातां निरावेव।
ज्याची कळा लीलालाघव। नेणती ब्रह्मादिक॥
उदकापासून सृष्टि केली। स्तंभेंवीण उभारली।
ऐसी विचित्र कळा केली। त्या नांव देव॥
ईश्वरें केवढें सूत्र केलें। सूर्यबिंब धांवाया लाविलें।
धुकुटाकरवीं धरविलें। अगाध पाणी॥
पर्वताऐसे ढग उचलती। सूर्यबिंबास आच्छादती।
तेथें सर्वेंचि वायोचि गति। प्रगट होये॥
झिडक झिडकूं धांवे वारा। जैसे काळाचा म्हणियारा।
ढग मारोनि दिनकरा। मोकळें करी॥
वैसती विजांचे तडाखे। प्राणिमात्र अवचिता धाके।
गगन कडकडून तडके। स्थळांतरीं॥
तयासी म्हणावें देव। येर हे अवघेचि वाव।
ऐसा आहे अन्तर्भाव। वेदांतींचा॥

'परमेश्वरको कैसे पहचाना जाय ?' यह बतानेके लिए समर्थ रामदास स्वामीने उपर्युक्त ओवियोंमें संसारके अनेक अचिन्त्य कार्योंके कर्ताके रूपमें उसका परिचय कराया है। वे कहते हैं—उस परमेश्वरको दिन-रात समस्त जीवोंकी चिन्ता लगी हुई है। उसीके शासनसे मेघ बरसते हैं, समुद्र अपनी मर्यादा बाँधे हुए हैं, शेषनाग भूमण्डल धारण किये हुए है और सूर्य नित्य प्रकाशित हो रहा है। इस तरह वह केवल अपनी सत्तामात्रसे सम्पूर्ण सृष्टिका संचालन कर रहा है। उसीने सम्पूर्ण चराचर सृष्टि और उसकी हलचल उत्पन्न की है, उसीको 'सर्वकर्ता' परमेश्वर कहते हैं। मेघमाला उसीने रची, चन्द्रबिम्बमें अमृतकला उसीने भरी और सूर्यमण्डलको उसीने तेज प्रदान किया

है। उसीकी मर्यादाका पालनकर सागर मर्यादित रहता है, उसीने शेषनागको स्थापित किया (स्थिर रखा) और उसीके चमत्कारसे सम्पूर्ण तारागण आकाशमें स्थित है। जिसने जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज ये चार प्रकारके शरीर बनाये और उनमें परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार प्रकारकी वाणियाँ, जीवोंकी ८४ लाख योनियाँ, किम्बहुना तीनों लोक (स्वर्ग, मृत्यु और पाताल) भी रचे वही परमात्मा है। जिसने यह सब रचा वही सर्वकर्ता परमेश्वर है। वास्तवमें देखा जाय तो वह स्वयं निराकार ही है। उसकी यह लोकोत्तर कला, लीला और कौतुक ब्रह्मादि देव भी नहीं जान पाते। उसकी लोकोत्तर कला देखिये कि उसने जलसे ही सृष्टि रची और बिना खंभेके ही उसे खड़ा कर दिखाया। यही ईश्वर अपने अद्भुत सूत्रसे सूर्यबिम्बको दौड़ाता और बादलोंसे अगाध जल धारण करवाता है। उसीकी प्रेरणापर पहाड़-से बादल भी उड़ने लगते और सूर्यबिम्बको ढँक देते हैं, किन्तु तुरन्त ही उसीकी प्रेरणासे वहाँ पवनकी गतिशीलता प्रकट हो उठती है। झिड़क-झिड़ककर हवा दौड़ती है, मानो महाकालका कोई हलकारा जा रहा हो, और वही सभी बादलोंको काट-काट सूर्यको पुनः प्रकट कर देता है। उस समय बिजलीकी कड़कड़ाहटसे प्राणिमात्रके कलेजे काँप उठते और बादलोंके गरजनेसे ऐसा जान पड़ता है, मानो आकाश फटा जा रहा हो। उसीको परमेश्वर कहना चाहिये, शेष सब झूठ है। समस्त सृष्टिका परमेश्वरमें लय हो जाता है, और यही वेदान्तका रहस्य है।

सचमुच सभीके लिए आश्चर्यप्रद यह विश्व परमेश्वरकी अचिन्त्य शक्तिका एक खेल ही है। आजतक किसीको पता न चल सका कि यह कैसा जादू है। जहाँ देखिये वहीं परमात्माकी विचित्र शक्तिका अतर्क्य विलास दर्शकोंको आश्चर्यचकित कर छोड़ता है। कोई कितना ही विचार करे, फिर भी सिवा इस अनुभूतिके कि 'कुछ भी समझमें नहीं आता', कोई स्पष्टी-

करण नहीं होता। स्वयं श्रुति भी इसका पार न पा सकी। और अन्ततः यही कहकर कि—'त्वं हि वेत्थ यथातथम्' (तुम्हारा तुम ही जानो) —मौन हो गयी।

'हें कैसें कैसें झालें। त्याचा तोचि जाणे॥'

समर्थने भी कहा है कि 'यह सब कैसे-कैसे हुआ' यह उसका वही जान सकता है। कौन जानता है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पञ्च महाभूत कैसे उत्पन्न हुए? जब कि प्रत्येक भूतका 'अपने-से पूर्वके भूतमें विलीन हो जाना' स्वभाव है तब भी ये एक-दूसरे भूतोंमें स्थित कैसे दीख पड़ते हैं? अर्थात् आकाशमें वायु, वायुमें अग्नि, अग्नि-में जल और जलमें पृथ्वी कैसे रह पाती है? कौन कह सकता है कि आकाशके असीम पोलेपनमें क्या भरा है. इस जगद्विलासका विचार करनेपर भला किसकी बुद्धि कुण्ठित नहीं होती? किसका मन आश्चर्य-चकित हो तटस्थ नहीं हो जाता? संसारकी इसी विचित्रताका वृक्षके रूपकसे गोस्वामीजी वर्णन करते हैं—

'अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंचवीस अनेक परन सुमन घने।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे।
पल्लवत फूलत नव ललित संसार-बिटप नमामहे॥'

'सर्वाश्चर्यमयं नभः'—केवल आकाशकी ओर ही दृष्टि डालिये, तो मालूम पड़ेगा कि अपने समग्र रूपमें वह एक आश्चर्य ही प्रकट हुआ है! आजतक किसने इस बातका पता लगाया कि आँख-मिचौनी खेलने-वाली असंख्य ताराएँ; आश्चर्यजनक पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न-कालीन चित्र-विचित्र दृश्य; प्रातःकाल आदि तत्तत् समयमें पैदा होनेवाले वे वातावरण और उस-उस समय मनमें उठनेवाली तत्तत् संवेदनाएँ—यह सब कौन, कहाँ और कैसे बनाता है? परमेश्वरकी यह अघटित

घटना अपने अद्भुत प्रभावसे भला किसका सिर प्रभु-चरणोंमें न नवायेगी ? इन नयन-मनोहर दृश्योंको देख विकसित हुए किस अन्तःकरणमें प्रभुका ध्यान अङ्कित न हो उठेगा ? आश्चर्यसे ठक-से होनेपर सुनाई पड़नेवाली यह आकाशवाणी कि 'परमात्मा अचिन्त्यशक्ति है', भला किसने नहीं सुनी होगी ? कौन ऐसा एक भी पदार्थ दिखा सकता है जहाँतक परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्तिका यह सन्देश न पहुँचा हो ?

आखिर हमारी आँखोंमें तेज किसने पैदा किया ? उनमें देखनेकी शक्ति कैसे आयी ? छोटी-सी आँखोंकी पुतलियाँ इतना बड़ा दृश्य कैसे देख पाती हैं ? कैसे सुनाई पड़ता है ? अविच्छिन्न विचारमालिकाके वे असंख्य शब्द लगातार एकके बाद एक कैसे बाहर निकल पड़ते हैं ? और दूरस्थ व्यक्तियोंको कैसे उनका परिज्ञान हो जाता है ? सृष्टिका कौन-सा कार्य आश्चर्यजनक नहीं है ? देहमें बाहर न दिखाई पड़नेवाला मन देहके भीतर रहकर ही बाहरके पदार्थोंको कैसे जान लेता है ? उस मनमें असंख्य विचार कैसे उठ पड़ते हैं ? भीतर ही भीतर वे किसके प्रकाशसे प्रकाशित हो उठते और वह प्रकाश भी कैसा है ? आन्तरिक अनुभूतिका स्वरूप क्या है ? हमारा श्वासोच्छ्वास कैसे चलता है ? भीतर ही भीतर जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ किस तरह अनुभवकी विषय बन जाती हैं ?

जीवके जन्म और जीवनका भी विचार करें तो किसे आश्चर्य न होगा ? सोचनेकी बात है, रज-वीर्यका एक ही बिन्दु हाथ-पैर आदि रूपोंमें अंकुरित हो उठता है। उसमें प्राणकला भर जाती है और 'मैं' इस अनुभूतिसे युक्त हो नौ महीने बाद वह माताके उदरसे बाहर पड़ता है। फिर वह माताका दूध पीकर शैशव, बाल्य, कौमार्य, तारुण्य, प्रौढता, वृद्धता आदि अवस्थाएँ पाता और उन-उन अवस्थाओंके अनुरूप व्यवहार करता है। उसका वह व्यवहार, वह टएट-घएट, वह घटाटोप देख कौन आश्चर्यचकित न हो उठेगा ? भला इस तरहका

खेल खेलना किसके बूतेकी बात है ? खाया हुआ अन्न और पीया हुआ पानी किस तरह रस-रक्तादि धातुरूप बन जाता है ? सोचनेकी बात है—किसी गुड़हट्टेमें गुड़ बनाना हो तो उसके लिए कितने लोगोंकी जरूरत पड़ती है ? तदर्थ कितने साधन जुटाने पड़ते हैं ? वह भट्टा, वह आग ! और यहाँ कुछ भी दिखाई न पड़ते रसादि सप्त धातुओंका यह परिपाक देख भला कौन आश्चर्यसे मुग्ध न हो उठेगा ?

आकाशकी वह असीम विशालता और नीलमणिकी तरह उसका वह नयनमनोहर रंग, उसके बीच शरदृतुमें दीख पड़नेवाले मेघोंके लुभावने विविध दृश्य, पावसकी वे अजस्र धाराएँ, भूमिमें उगनेवाले वे अंकुर और उनमें फूट पड़नेवाले कोमल किसलय (नवपल्लव), वह छोटा-सा पौधा, वह विशाल वृक्ष, उसमें विविध फूलोंका खिलना और उनमें से बाहर फैलनेवाली भीनी-भीनी सुगन्ध, मानो हँस रहे फूलोंके वे गुच्छे, विविध रंगोंके फलोंके वे घड़ और उनका वह लुभावनापन, भूमिपर हरी घासके गलीचेका वह सुन्दर दृश्य, विभिन्नकालीन सूर्यप्रकाशका वह आनन्द, मन्द-मन्द बह रहे शीतल समीरका वह अलौकिक सुख, झर-झर बह रहे झरनोंका वह मधुर कल-कल रव (शब्द) और उनका वह निर्मल बहाव; इन्द्रधनुषकी वह रमणीयता, समुद्र, नदी, सरोवर, मनपर छाप डालनेवाले तीर्थोंके वे पवित्र दृश्य—ऐसे एक-दो नहीं, सारीको सारी सृष्टि ही आश्चर्यसे ओत-प्रोत है ।

बाग-बगीचों या जंगलोंमें स्थित विभिन्न आकार-प्रकार और रंगोंकी फूल-पत्तियाँ और विविध स्वाद-रसभरे फल देख किसका मन आश्चर्य-मुग्ध नहीं हो उठता ? अपनी रंग-विरंगी देहोंके सौन्दर्यसे जनसाधारण-को लुभाती, बागोंमें स्वच्छन्द उड़ती तितलियोंपर दृष्टि डालिये—उनमें भी कितनी जातियाँ हैं ! कल्पनातक नहीं की जा सकती कि उनमें कैसे-कैसे रंग भरे पड़े हैं । एक फूलसे दूसरे (फूल) पर उसमें से

मधु ले उड़ रही और अपने गुंजारसे आगेके मीठे मधुकी अनुभूति करा रही वे मधुमक्षिकाएँ, उनका वह शहदका छत्ता और उसमें का वह शहद—क्या सभी कुछ आश्चर्य नहीं ? किसी बड़े कारखानेकी तरह बिना विश्राम सदा उनका काम चलता रहता है ! कितनी सुव्यवस्था है उनके इस काममें ! आखिर किसने शहदकी मक्खियोंको यह विद्या सिखलायी ? वे विभिन्न जातियोंके पंछी, उनके वे नमूनेदार घोंसले, उनके रंग-बिरंगे नन्हें-नन्हें शरीर, उनका वह चटकीला मधुर शब्द, उनकी गुंजार, उड़ान ! हिरनका वह सात्विक दृश्य, वह चौकड़ी भरना ! मोरोंका वह सौन्दर्य, वह नृत्य ! कोयलकी वह काकली !—क्या सभी विलक्षण आश्चर्य नहीं पैदा करते ? इनमें से किसीपर भी सोचिये, सीधे आप आश्चर्य-सागरमें ही डूबते-उतराते रहेंगे। संक्षेपमें निस्संदेह यह सारा विश्व ही परमात्माकी आश्चर्यशक्तिकी सुन्दर प्रदर्शनी है—ये सारी आश्चर्यप्रद कृतियाँ परमेश्वरकी सहज लीलाएँ ही हैं।

'एतावानस्य महिमा'—यह सारी परमेश्वरकी ही महिमा है। भला उसके द्वारा बाँधी सीमारेखाको कौन लाँघ सकता है ? ईश-सृष्टिका यह चमत्कार देख सिवा उस परमात्माके महिमा-गानके उसकी इस सृष्टिमें किंचित् भी उलट-फेर करते नहीं बनता। मानव भले ही ठीक गुलाब-सा सुन्दर फूल तैयार कर ले, पर उसमें वह गुलाबकी भीनी-भीनी सुगन्ध नहीं भर सकता।

'तत्र सौरभनिर्माणे चतुरश्चतुराननः।'

उसमें सुगन्धि-निर्माणकी सामर्थ्य तो वही परमेश्वर रखता है—वही वह कलाबाजी जानता है ! वही उस कलाका कुशल कलाकार है। सोचनेकी बात है कि आजतक इस ईशसृष्टिकी तरह एक भी पदार्थ कोई बना सका है ? आधुनिक भौतिक शोधोंका चमत्कार भी उस परमेश्वरकी शक्तिके आविष्कारके सिवा और कुछ भी नहीं है।

सर्वसमर्थ परमेश्वर

मानव कितना ही बड़ा क्यों न हो, थोड़ा-सा पैर फिसलते ही वह चित पड़ जाता है, थोड़ा-सा पित्त बढ़ते ही उसका सिर घूमने लगता है, आँखोंपर अँधेरा छाते ही वह खड़ा भी नहीं रह सकता। महा-सर्वज्ञ होनेकी शेखी बघारनेवालेको अपनी पीठ ही क्या, अपना मुँह भी (बिना दर्पणके सहारे) दीख नहीं पड़ता। दूरकी वस्तुओंकी तो बात ही क्या, उसे अपनी देहके भीतरकी भी वस्तुएँ दिखाई नहीं पड़तीं। सोचनेकी बात है, आजतक किसीकी भी सभी इच्छाएँ पूरी नहीं हो सकीं। हरएकका जीवन कम-वेशी, कमियों और चिन्ताओंसे भरा ही हुआ है! केवल भविष्यकी भव्य आशाओंसे ही प्रत्येक मानव जीवन धारण किये हुए है। परमात्मासे अलग हो कभी कोई रह ही नहीं सकता। इस तरह सुनिश्चित है कि परमात्माकी सत्तासे भिन्न यहाँ किसीकी सत्ता संभव नहीं, फलतः इस संसारमें स्वतन्त्रता किस बातकी रही? गोस्वामीजी भी कहते हैं—'परबस जीव स्वबस भगवंता।'

'पादोऽस्य विश्वाभूतानि', 'एकांशेन स्थितो जगत्'—अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका यह अखिल दृश्य और ये निखिल जीवजात (जीवसमूह) उसी अनन्त परमात्माके एक छोटेसे अंशमें (एक पैरमें) समाया हुआ है। 'तस्य मात्रामुपजीवन्ति'—उस परमात्मरूप अगाध सुख-समुद्रके एक तुषारमें (छींटेमें) समाये सुखसे ही यह सारा जीव-जगत् जीवन धारण किए हुए है। इस तरह अत्यल्प सामर्थ्य और परवशताका जीवन बिता रहे मानवके लिए अभिमानसे फूल जानेका कहीं अवकाश ही नहीं है। सर्वथा न चाहते हुए भी कई मनोविरुद्ध घटनाएँ बलात् घट ही जाती हैं, आश्चर्य है कि फिर भी मानव गर्वोद्धत होना नहीं छोड़ता!

'अहंता सांडूनि विवरणें। कित्येक देवाचें करणें।
पाहतां मनुष्याचें जिणें। थोडें आहे॥

थोडें जिणें अर्धपुडी काया। गर्व करिती रडाया।
शरीर अवघें पडाया। वेळ नाहीं॥
कुश्चिल आणि क्षणभंगुर। अखंड व्यथा चिंतातुर।
लोक उगेच म्हणती थोर। वेडेपणें॥'

श्रीसमर्थ कहते हैं कि अभिमान छोड़ परमेश्वरकी अचिन्त्य करनीका विचार करना चाहिये, पर इस कामको देखते हुए मनुष्यका जीवन बहुत ही कम है—वह इस कामके लिए पर्याप्त नहीं है। यद्यपि जीवन अल्प और देह क्षणभंगुर है, शरीर गिरते देर नहीं लगती, फिर भी लोग व्यर्थ ही अभिमान करते हैं। यह देह मलिन और क्षणभंगुर है, इसमें सदा पीड़ा-चिन्ताएँ लगी ही रहती हैं, फिर भी लोग अविचार-वश व्यथ ही अपनेको बड़ा बताते हैं। सन्त कबीर भी कहते हैं—

'जस पानीका बुदबुदा, तस मानुसकी जात।
देखत ही छिप जायगी, जस तारा परभात॥'

इसीलिए गोस्वामीजी भी उपदेश देते हैं—

'तजि ममता मद मान, भजिय सदा सीतारमन।'

'तेजस्तेजस्विनामहम्', 'बलं बलवतामस्मि'—तेजस्वियोंकी तेजस्विता और बलवानोंका बल तथा—'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि'—बुद्धिमानोंकी बुद्धिमत्ता—सभी परमात्माका ही है।

'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥'

गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे स्पष्ट ही कहा है कि 'अर्जुन! जीवमात्र-के बीच 'उत्कट, भव्य, भारी' जो कुछ वैशिष्ट्य दीख पड़ता है, वह समस्त आकर्षक विभूतिमत्त्व मेरे एक अंशके विभागतारतम्यसे ही उन-उन बड़े व्यक्तियोंमें है, यह समझो। सोचनेकी बात है कि अपने पौरुषसे सारे भूमण्डलको अपने अधीन कर लेनेवाले असंख्य चक्रवर्ती कहाँ रहे?

'मृत्यु न म्हणे कीं हा क्रूर। मृत्यु न म्हणे हा झुंजार।
मृत्यु न म्हणे हा संग्राम-शूर। समरांगणीं॥
मृत्यु न म्हणे बलाढ्य। मृत्यु न म्हणे धनाढ्य।
मृत्यु न म्हणे आढ्य। सर्व गुणें॥
सरता संचिताचें शेष। नाहीं क्षणाचा अवकाश।
भरतां न भरतां निमिष्य। जाणें लागे॥'

श्रीसमर्थ लिखते हैं कि मृत्यु नहीं कहती कि यह क्रूर है, मृत्यु नहीं कहती कि यह पहलवान है, और मृत्यु यह भी नहीं कहती कि यह समरांगणमें संग्राम करनेवाला शूरवीर पुरुष है। मृत्यु नहीं कहती कि यह बलवान् है और न वह समझती है कि यह धनवान् है, सर्वगुणसम्पन्न पुरुषको भी मृत्यु कोई चीज नहीं समझती। संचित कर्मोंका शेष पूरा हो जानेपर फिर यहाँ एक क्षण भी माँगे नहीं मिलता, पलभर भी नहीं जाने पाता कि कूच करना ही पड़ता है। कबीरदासजीने भी कहा है—

'पीर मरे पैगम्बर मरिगे, मरिग जिन्दा जोगी।
राजा मरिगे परजा मरिगे, मरिगे वैद औ' रोगी।
चन्दा मरिहैं सुरजौ मरिहैं, मरिहैं धरनि अकासा।
चौदह भुवन चौधरी मरिहैं, इनहुन कै का आसा।
नौहू मरिगे दसहू मरिगे, मरिगे सहस-अठासी।
तैंतिस कोटि देवता मरिगे, परिगे काल कि फाँसी।
नाम अनाम रहै जो सद ही, दूजा तत्त न होई।
कहै कबीर सुनौ भइ साधो, भटकि मरै मति कोई॥'

आखिर यह लोक 'मृत्यु-लोक' नामसे ही विख्यात है।

'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति हि यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥'

'उपजला प्राणी जाईल वरवा। मृत्युपंथें ॥'
'हे प्रकट जाणती समस्त। लहान थोर ॥'

जो यहाँ आया वह अवश्य ही मृत्युको प्राप्त होगा, इसे छोटे-बड़े सभी भलीभाँति जानते हैं। तथापि एकको मरता देख भी दूसरा अपना जीवन शाश्वत (नित्य) मानकर ही चलता है इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात क्या हो सकती है? मृत्युके ही एक उदाहरणसे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि सभी प्राणी ईश-सत्ताके अधीन हैं? किसी समयकी अत्यन्त वैभव-सम्पन्न राजधानीकी जगह आज घोर जंगल लगा दीखता है तो किसी समयके घोर जंगलकी जगह आज गगनचुम्बी उत्तुङ्ग प्रासादोंसे सजी सुन्दर राजधानी बड़ी शानके साथ खड़ी पायी जाती है। किसी समयके जलमें डूबे प्रदेशपर आज जमीन दीख पड़ती है तो कहीं किसी समयके भूप्रदेशपर आज चारों ओर पानी ही पानी दिखाई पड़ता है। इस तरह यह सृष्टिचक्र किसीकी भी परवाह नहीं करता, फिर भी वह एकमात्र परमेश्वरके कहनेमें अवश्य है। अनादिकालसे अखण्ड चली आ रही यह सृष्टि आजकी कही जाय या कलकी? पर इतना तो निश्चित ही है कि इसे अपने अधीन रख अपनी कलासे चलानेमें समर्थ एकमात्र जगज्जनक परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं।

अबतक इस पृथ्वीपर अपनेको लगानेवाले कितने ही पैदा हुए और नष्ट भी हो गये! परमात्माकी आज्ञासे यह सारा सृष्टिचक्र चल रहा है। परमात्माके शासनके समक्ष सिर झुकानेसे इनकार करनेवाले कितने ही इस शासनमें पिसकर मिट गये! परमेश्वरके शासनके समक्ष सभीको घुटने टेकने पड़ते हैं। किन्तु जिन्होंने उनके आदेशानुसार चल और उनकी कृपाका पात्र बनकर उनका अनुग्रह पाया वे परमात्माकी सायुज्यमुक्तिके अधिकारी बन गये। जब कि वेद भी उनके भाग्य और वैभवका वर्णन नहीं कर सकते तो मानवकी बात ही क्या?

'आपण आहे दो दिसांचा। आणि देव बहुता कालाचा।
आपण थोडें ओळखीचा। देवासी त्रैलोक्य जाणें॥
याकारणें जो शहाणा। तेणें प्रभूसि भेटावें जाणा।
ऐसे न करतां दैन्यवाणा। संसार त्याचा॥
साहेबास लोटांगणीं जावें। नीचासारखे व्हावें।
आणि देवास न मानावें। हे कोण ज्ञान॥
हरिहर ब्रह्मादिक। हे जयाचे आज्ञाधारक।
तूं एक मानवी रंक। भजेसीना तरी काय गेलें॥
समर्थांचे मनींचें तुटे। तेंचि जाणावें अदृश्य खोटें।
राज्यपदापासून करंटे। चेवले जैसे॥
देव भक्तांचा कैवारी। देव पतितासी तारी।
देव होय साहाकारी। अनाथांचा॥
देव कृपेचा सागरु। देव करुणेचा जलधरु।
देवासी भक्तांचा विसरु। पडणार नाहीं॥
सख्य देवाचें तुटेना। प्रीति देवाची विटेना।
देव कदा पालटेना। शरणांगतांसी॥
ऐसा कृपाळु देवाधिदेव। नेणवे जयाचें लाघव।
जो सांभाळी सकळ जीव। कृपाळूपणें॥
उपासनेचा मोठा आश्रयो। उपासनेवीण निराश्रयो।
उदंड केलें तरी जयो। प्राप्त नाहीं॥
समर्थांची नाहीं पाठी। तयास भलताचि कुटी।
या कारणें उठाउठी। भजन करावें॥
भगवंत भावाचा भुकेला। भावार्थं देखोनी भुलला।
संकटीं पावे भाविकाला। रक्षितसे॥
जयास भगवंत आवडे। तयाचें देवासी सांकडें।
संसार-दुःख सकळ उडे। निजदासांचें॥

जे अंकित ईश्वराचे। तयांसी सोहळे निजसुखाचे।
धन्य तेचि दैवाचे। भाविक जन॥'

श्रीसमर्थ कहते हैं कि हम सब तो दो दिनोंके हैं और परमात्म अनन्तकालके लिए है। हम सबके परिचित तो इने-गिने हैं, पर परमात्माको तीनों लोक जानते हैं। इसलिए चतुर मनुष्य प्रभुसे अवश्‍ जा मिले, यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे गार्हस्थ्यजीवनमें अने संकट, कष्ट उठाने पड़ते हैं। तुम साहबके (लौकिक स्वामीके) पैरों तो खुशीसे लोटते और जान-बूझकर नीच बनते हो, पर परमात्मा नहीं मानते, यह कहाँका ज्ञान है? जिसके आगे ब्रह्मा, विष्णु, मह आदि हाथ जोड़े खड़े रहते हैं, उसे यदि तुम्हारे समान एक क्षुद्र मान न भजेगा तो उसका क्या बिगड़ेगा? जो समर्थ (प्रभु) के चित्तसे उ गया तो जान लो कि उसका भाग्य खोटा है, उसका वही हाल होता जैसे कोई अभागा राजाके पदसे च्युत हो जाय। परमात्मा भक्तों पक्षपाती है, वह पतितोंका उद्धारक और अनाथोंका नाथ बनता है। व कृपाका सागर और करुणाका जलधर (बादल) है, वह भक्तोंको क नहीं भूलता। ईश्वरकी मित्रता कभी नहीं छूटती, उसके प्रेममें क अन्तर नहीं आता और न वह कभी शरणागतकी उपेक्षा ही करता है वह देवाधिदेव महादेव बड़ा दयालु है, उसकी लीला कोई नहीं जान वह कृपापूर्वक सभी जीवोंकी रक्षा करता है। उपासनाका बहुत ब अवलम्ब है, बिना उपासनाके काम नहीं चल सकता—चाहे जित यत्न किया जाय, फिर भी सफलता नहीं मिल सकती। जिसे सम (प्रभु) का अवलम्ब नहीं, उसे चाहे जो कूट-पीट सकता है, इसलि उठते-बैठते सदैव भजन करते रहना चाहिये। भगवान् भक्तिभाव भूखा है, वह भक्तिभावपर ही भूलता और भक्तपर प्रसन्न हो संक उसकी रक्षा करता है। जो परमात्मापर प्रेम करता है उसकी भी चिन्ता (ध्यान) रखता है, वह अपने दासके सारे दुःख दूर क

है। जो परमेश्वरके दास हैं वे ही स्वात्मसुखका आनन्द लूटते हैं, सच-मुच ऐसे भक्त बड़भागी (धन्य) हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी भी अनेक स्थलोंपर यही बात कहते हैं—

'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई ॥
तथा मोक्षसुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरिभगति बिहाई ॥'

'भावबस्य भगवान्, सुखनिधान करुणा-भवन।'

'रामहिं केवल प्रेम पियारा। जान लेहु जो जाननहारा ॥'

'जिमि हरि-सरनन एकौ बाधा।'

धर्म ही जीवनका वास्तविक आधार

'धर्म' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक 'भगवत्' शब्द ही इसकी बराबरी कर सकता है, कारण भगवान्का 'धर्म' भी एक नाम है। 'विष्णु-सहस्रनाम' में कहा है—'धर्मो धर्मविदुत्तमः।' परमात्मा द्वारा आविर्भूत इस धर्मको परमात्मरूप बताते समय 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (अपनी आत्मा ही पुत्र नामसे प्रकट होती है) यह श्रुति स्मरण हो आती है। निस्सन्देह सुखस्वरूप परमात्मा द्वारा आविर्भूत धर्म भी 'यथा बीजं तथाऽङ्कुरः' (जैसा बीज वैसा ही अंकुर होता है) इस न्यायसे सुखस्वरूप ही होना चाहिये। फिर 'धर्मात् सुखमवाप्नोति' (धर्मसे सुख मिलता है) यह कहना भी क्या 'सुखात् सुखमवाप्नोति' (सुखसे सुख मिलता है) कहने जैसा नहीं हुआ ? इस तरह चूँकि सुखसे ही सुख मिलता है और धर्म भी सुखरूप है, इसलिए सुस्पष्ट है कि 'धर्मात् सुखमवाप्नोति' का निष्कृष्टार्थ 'धर्मसे सुख होता है' यही होता है। फिर 'धर्म-त्याग' का अर्थ भी क्या 'परमात्माका त्याग' या 'सत्य-सुखका त्याग' नहीं होता ? तब सहज ही यह प्रश्न उठता है कि आखिर सत्य-सुख ही त्यागकर जीना भी किस कामका और वह संभव

भी कैसे होगा ? 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्', 'यदेष आकाश आनन्द न स्यात्'—स्वयं श्रुति कहती है कि मानव सिवा आनन्दके अ किसीसे भी जीवित नहीं रह सकता। 'धार्यते अनेनेति धर्मः' जिससे धारण, जीवन और पोषण हो वही सुखका अपरपर्याय 'ध शब्द है। अर्थात् सुखको त्यागकर जीवित रहना संभव ही नहीं फिर क्या 'धर्म-निरपेक्ष' रहना भी कभी संभव है ?

ध्यान रहे कि देश, धर्म और देव इन तीनोंके बीच देशकी अपे धर्म और धर्मकी अपेक्षा देव उत्तरोत्तर अधिकाधिक श्रेष्ठ माने ग हैं। देश और धर्मके बीच भी, परमात्माका प्रापक होनेसे, धर्म ही श्रे है। और इन दोनोंके बीच भी एकके त्यागका प्रसंग उपस्थित हो तो दे त्याग ही प्रशस्त है, यही वेद, शास्त्र एवं पुराणोंका सुनिश्चित मत है सभी देशोंके इतिहास भी इसी मतकी पुष्टि करते पाये जाते हैं। एकम अपने हिन्दूधर्माभिमानके कारण पाकिस्तान बन जानेपर वहाँ हि सभी लोगोंने अपनी खेती-बारी, घर-द्वार आदि जीवनोपयोगी स पदार्थ त्याग दिये, वे केवल शरीरपर के वस्त्रके साथ उस देशको छो निकल पड़े और अपने धर्म-देश हिन्दुस्थानमें आ बसे। गोआके सारस्वत और गौड़ सारस्वत ब्राह्मणोंका आदर्श भी ध्यान देने यो है जो पुर्तगाल शासकोंके भीषण अत्याचारोंसे अपना धर्म बचा रखनेके निमित्त पुर्तगाल शासनके अधीन अपनी जन्मभूमिको त और समस्त स्थावर-जङ्गम जीवनकी आशा छोड़ मंगलूर, कारवार आ प्रदेशोंमें जा बसे। इसी प्रकार रत्नागिरि प्रदेशके म्लेच्छों, सिद्दियोंके अ अत्याचारोंसे ऊब चित्त-पावन (कोंकणस्थ नामक महाराष्ट्र ब्राह्मणों एक अवान्तर जातिके) ब्राह्मण भी सर्वस्व त्याग उस प्रदेशको छो पूनामें आ बसे। इस तरह स्पष्ट है कि देश और धर्मके बीच किसी ए त्यागका प्रसंग उपस्थित होनेपर आजतक सभी लोगोंने धर्मके देशका ही त्याग किया। कभी किसीने देशके लिए धर्म नहीं त्या

'धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥'

इन लोगोंका दृढ़ विश्वास रहा कि सबका धारण, रक्षण, पोषण तथा इहलोकके सुव्यवस्थित जीवन और परलोककी श्रेष्ठ गतिका एकमात्र कारण धर्म ही है। 'धर्मादर्थश्च कामश्च'—आर्योंका दृढ़ निश्चय है कि धर्मका बल होनेपर ही उत्तम सन्तति, अचल सम्पत्ति सब कुछ प्राप्त हो सकता है—सारी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं। महाराज मनु स्पष्ट कहते हैं कि धर्मके नाशसे अपना भी नाश हो जाता और उसकी रक्षासे अपनी भी रक्षा होती है—'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।' वास्तवमें इसी दृढ़ निश्चयसे आर्योंने कभी भी धर्म नहीं त्यागा।

'सुखं तु न विना धर्मात् तस्माद् धर्मपरो भवेत्।'

इसीलिए आर्य अपने अनुभवकी शिक्षा देते हैं कि बिना धर्मके सुख सम्भव नहीं, अतः निरन्तर धर्म-परायण रहना चाहिये।

'तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥'

अतएव भगवान् मनु कहते हैं कि सदैव धर्मकी सहायताकी ही अपेक्षा करनी चाहिये। उसीके लिए यथासंभव यत्न करना चाहिये। यदि अकेले धर्मकी ही सहायता हो तो दुःख, शोक, अज्ञान सभी नष्ट हो जाते हैं।

'मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥'

प्राण छूटनेके बाद इस शरीरका कोई तिनकेभर भी मूल्य नहीं आँकता। पत्नी-पुत्र, इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धव कोई भी उसपर प्रेम नहीं करता, वे निरुपयोगी पदार्थकी तरह उसका त्याग कर देते हैं। तब उसके सुख-दुःखकी कोई भी नहीं सोचता। मृत व्यक्तिके साथ यहाँवालोंमें से

कोई भी साथ नहीं जाता, एकमात्र धर्म ही उसका सहयात्री होता है।

'नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥'

मरणोत्तर जीवनमें प्राणीके सहायतार्थ माता-पिता, पत्नी-पुत्र, धन-दौलत, जमीन-जायदाद कुछ भी साथ नहीं जाता। वहाँ उसे सिवा धर्मके किसीका भी आधार नहीं रहता, एकमात्र धर्म ही उसका साथ देता है।

सुखाचे सांगाती सर्वहि असतो। दुःख होतां जाता निघोनियां ॥'

श्रीसमर्थ भी कहते हैं कि सभी सुखके साथी हैं और दुःख आते ही सभी भाग निकलते हैं।

गोस्वामीजी भी कहते हैं—

'स्वारथ मीत सकल जगमाहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं ॥'

सोचनेकी बात है, जब जीते-जी ही यह हाल है तो मरनेके बाद पूछना ही क्या ? पर धर्म ऐसा नहीं है, वह सदैव साथी रहता है। वह गाढ़े समय धार्मिकका साथ नहीं छोड़ता, प्रत्युत उसे शान्ति और समाधान ही देता रहता है। सुखमें भी वह इस बातकी सतर्कता रखता है कि प्राणी बुरे रास्ते न चले। ऐहिक-पारलौकिक सुख-समाधानमें किसी तरहकी बाधा न आने देते हुए प्राणोका यदि कोई इहलोक और परलोकका सच्चा साथी है तो वह एकमात्र धर्म ही है। शरीर रहनेतक यह जीवनका हितसाधन करता और शरीरके गिरनेपर उसीके साथ रहकर यही उसके समस्त पारलौकिक सुखोंका साधन बन जाता है। 'धर्मेण पापमपनुदति'—महानारायणोपनिषद्का कहना है कि धर्मसे समस्त पाप-तापोंका नाश होता है। समस्त दुःख मिटानेवाला धर्म कहें या स्वजन, सिवा धर्मके दूसरा कोई नहीं है।

धर्मपालन ही श्रेष्ठ कर्त्तव्य

श्रीसमर्थ रामदासजो कहते हैं—

'एका दुर्भराकारणें। नाना नीचांचो सेवा करणें।
नाना स्तुति आणि स्तवनें। मर्यादा धरावी॥
जो अन्न देतो उदरासी। शरीर विकावें लागे त्यासी।
मां जेणें घातलें जन्मासी। त्यासी कैसें विसरावें॥
तुझें तुज नव्हे शरीर। तेथें इतरांचा कोण विचार।
आतां एक भगवंत साचार। धरी भावार्थबळें॥
जयाचा ईश्वरीं जिव्हाळा। ते भोगिती स्वानंद-सोहळा।
जयांचा जनावेगळा। ठेवा अक्षै॥
ते अक्षै सुखें सुखावले। संसारदुःख विसरले।
विषयरंगीं ओरंगले। श्रीरंगरंगीं॥'

अर्थात् इस एक पापी पेटके लिए अनेक नीचोंकी सेवा करनी पड़ती है। अनेक प्रकारसे उनकी चापलूसी और अदब करनो होती है। इस प्रकार जो केवल पेटके लिए अन्न देता है उसके हाथ यह सारा जीवन बेच देना पड़ता है। फिर जिस परमपिता परमात्माने यह जीवन दिया, उसे कैसे भूला जाय? जब स्वयं तुम्हारा शरीर ही अपना नहीं तब दूसरेकी गिनती ही क्या? अतएव भक्तिभावसे उसी एक परमात्मा-पर ही भरोसा रखो। जिनका ईश्वरके प्रति अत्यन्त प्रेम हो वे स्वानन्द सुख भोगते हैं, उनका स्वानन्दकोश अक्षय या अलौकिक रहता है। वे अक्षयसुखसे सुखी होते और संसारदुःख भूल जाते हैं। वे ईश्वरके रंगमें रँग जानेवाले पुरुष विषयके रंगसे पराङ्मुख रहते हैं।

ध्यान रहे कि यहाँका स्वधन, स्वजन, देह, गेह आदिका सम्बन्ध केवल इसी जन्मके लिए होता है। यदि एक धर्म इनके साथ हो तो सभी भगवत्प्राप्तिमें सहायक हो सकते हैं। कारण इस धर्मका सम्बन्ध मानव-के जन्म-जन्मान्तरसे रहता आ रहा है और अन्तमें प्राणीको भगवत्प्राप्ति

कराकर उसके मुक्त होनेतक यह बना रहता है। इतना ही नहीं, मुक्तावस्थामें भी यह स्वस्वरूपसे समरस हो रहता है। स्वरूपमें समरस हो सहजस्थितिमें रहना ही 'मुक्तोंका धर्म' कहलाता है। इस धर्मका साहाय्य रहनेपर ही देवताओंका भी साहाय्य संभव है। और यदि धर्मका साहाय्य न रहे तो देवता भी कभी मानवकी सहायता नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, उसे कठोर दण्डका भागी भी बनना पड़ता है, फिर भगवान्‌की प्राप्ति तो दूरकी बात रही। यही सब सोच-समझकर प्राचीन लोगोंने धर्मत्यागकी अपेक्षा देशत्याग ही उचित माना और उसे ही स्वीकार किया। धर्मत्यागके विकट प्रसंगमें उन्होंने देश त्यागकर धर्मको बचाया। जिस तरह परधर्मका स्वीकार न कर स्वधर्मरक्षार्थ सर्वस्वत्यागपूर्वक देश छोड़नेवालोंकी संख्या विपुल है उसी तरह स्वधर्मके लिए सारे ऐहिक सुखों और सुखसाधनोंपर विना दिक्कत पानी छोड़ देहत्याग करनेवालोंकी संख्या भी पर्याप्त है। इसी तरह केवल जीवनके लिए भी देश त्यागनेवालोंकी संख्या भी कम नहीं, किन्तु धर्मत्याग करनेवालोंकी संख्या निश्चय ही बहुत कम मिलेगी। जिसमें उत्तम बीज और शुद्ध क्षेत्र, शुद्ध संस्कार, सज्जन-संगति, सत्-शिक्षा, सारासारविचारकी शक्ति, परमात्माकी कृपा आदि सद्‌गुण रहते हैं उस भाग्यशाली पुरुषको किसी भी स्थितिमें धर्मत्यागकी अपेक्षा देशत्याग और वैसी ही स्थितिमें देहत्याग भी श्रेष्ठ ही प्रतीत होता है। और वैसा प्रतीत होना ही कुलीनता एवं सज्जनताका एक लक्षण भी है।

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः', 'यतेमहि स्वराज्ये'

ज्ञातव्य है कि 'जन्मभूमि मेरी माँ है और मैं मातृभूमिका पुत्र हूँ, हम सभी स्वराज्यके उत्कर्षके लिए जी-जानसे जुट जायँ' आदि उपर्युक्त वेदवाक्य धर्मानुष्ठानकी अनुकूलताको ही सामने रखकर बताये गये हैं। भगवान्‌ने सर्वत्र 'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे' (धर्मकी रक्षाके लिए मैं युग-युग अवतार धारण करता हूँ) कहा है, कहीं भी

'राज्यसंगोपनार्थाय' (राज्यकी रक्षाके लिए) या 'देशसंगोपनार्थाय संभवामि युगे युगे' (देशकी रक्षाके लिए मैं युग-युग अवतार लेता हूँ) ऐसा नहीं कहा। देशके युवकों, संघ और समाजके नेताओं तथा सभी राष्ट्रनायकोंको तो विशेष रूपसे उपर्युक्त बातपर गम्भीरतासे ध्यान रखना, व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके लिए नितान्त आवश्यक है। धर्मपालनका यह चैतन्य और पौरुष खोकर जीवन बिताना, प्राण खोकर देहधारण (शवधारण) की तरह ही माना जायगा। इस तरह जीवित-मृतक बने रहना कभी आर्योंका लक्षण नहीं और न वह आर्योंके पुत्रोंका ही लक्षण हो सकता है। प्रेम, जीवन या बड़प्पन किसीके भी मोहका शिकार हो धर्म त्यागना 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' हो दीन-हीन और निन्द्य जीवनके दास बनना ही कहा जायगा।

मानवका व्यवच्छेदक लक्षण 'धर्म'

'लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्कः......................॥'

भगवान् मनु कहते हैं कि आर्यधर्मके नियम इसीलिए रचे गये हैं कि इहलोक और परलोकमें सभीके लिए उन्नत ध्येयकी दिव्य जीवन ये यात्रा समान रूपसे सुखावह हो। इस धर्मका यथाविधि पालन करनेसे जीवित अवस्थामें और मृत्युके उपरान्त भी दिव्य सुख प्राप्त होता है। संक्षेपमें जीवनकी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिए ही धर्मका उपदेश है। धर्मके त्यागका अर्थ समझ-बूझकर सर्वांगीण उन्नति और दिव्य सुखका त्याग करने जैसा है। प्राणपणसे धर्मरक्षा करना ही मानवकी मानवता है। 'मारावें कीं मरावें धर्मासाठीं।'—श्रीसमर्थने शिवाजी महाराजको यही उपदेश दिया है कि धर्मके लिए मारो या मरो। आजतक असंख्य लोगोंने धर्मपर अपने प्राण न्योछावर कर दिये। आर्योंके लिए प्राणत्यागकी अपेक्षा धर्मत्याग अति असह्य दुःखद प्रतीत होता है। तेजस्वी और

ओजस्वी जीवनका प्राण धर्म ही है। कामके विकारसे, प्राणके भयसे, गौरवकी अभिलाषासे या जीवनके मोहसे धर्मका त्याग वैसा ही माना जायगा जैसे ओलेके (करकके) लिए 'कोहेनूर'-से अमूल्य हीरेका त्याग! थोड़ेके लिए बड़े लाभसे हाथ धोना बुद्धिजीवी प्राणियोंमें सर्व-श्रेष्ठ होनेका गर्व करनेवाले मानवका लक्षण कभी नहीं कहा जा सकता। मानवकी मानवता एकमात्र धर्मपालनसे निखर उठती है। यदि मानवमें-से धर्मकी विशेषता निकाल दी जाय तो वह—'पशुः पुच्छ-विषाणहीनः'—पूँछ और सींगसे रहित पशु, गुरिल्ला ही कहा जायगा।

'आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥'

जब आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्रवृत्तियाँ खर (गदहे) से लेकर नरतक समान पायी जाती हैं तो क्या खरसे नरको अलग चुनना उचित होगा? वास्तवमें धर्मसे ही नरमें खरसे व्यावृत्त नरत्व या मनुष्यत्व है। यदि उसमेंसे धर्म ही नष्ट हो गया तो फिर खर और नर-में भेद क्या रह जायगा? 'स नरः खर एव हि'—निश्चय ही वह नर खर है।

'येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥'

परमात्मप्रणीत वैदिकधर्मका यह अतिसरल, स्पष्ट अभिप्राय है कि जिसमें विद्या, तप, आत्मज्ञान, शील, सद्गुण, सदाचार, नीति, न्याय और धर्मपरायणता नहीं रहती वह मानव निश्चय ही श्वान-शूकर (कुत्ते और सूअर) की तरह हैं।

सोचनेकी बात है कि कुत्ते-सियार भी परमात्मा द्वारा निर्धारित नियमोंके अनुसार ही चलते हैं। सियार गाँवमें नहीं घुसता और कुत्ता दरवाजेके बाहर आँगनमें ही पड़ा रहता है। वह भी मालिककी आज्ञा-

का उल्लंघन नहीं करता। कुत्तेकी स्वामिभक्ति सुप्रसिद्ध है। मालिकके 'जाओ' कहनेपर वह चला जाता, 'आओ' कहनेपर चला आता और 'बैठो' कहनेपर बैठ जाता है। वह मालिकके खाये नमकका (अन्नका) ध्यान रखता और सदैव कृतज्ञ होता है। बुद्धिधारी जीवोंमें कुत्ता भी एक गिना जाता है। वर्षभरमें नियत एक-दो महीनोंके बीच ही उसमें मैथुन-प्रवृत्ति दीख पड़ती है। इस तरह परमात्मा द्वारा निर्धारित अपने नियमोंका कुत्ते-सियार भी उल्लंघन नहीं करते। वे बिना प्रमादके अपने धर्मके अनुसार चलते हैं, परमात्माने उनके लिए भी एक धर्म बना दिया है। फिर मानव ही परमात्मा द्वारा निर्धारित श्रुति-स्मृतिप्रोक्त धर्मके अनुसार क्यों न चलें? वे श्रुति-स्मृति द्वारा निर्धारित खान-पान और मैथुनादिसम्बन्धी नियमोंका पालन क्यों न करें? ध्यान रहे कि परमात्मप्रणीत सनातनधर्मके आचरण और ज्ञान-वैराग्यादिके सहारे नरसे नारायणतक बननेकी इच्छा और सामर्थ्य रखनेवाला ही मानव धर्मका उच्छेद करनेपर विशुद्ध खर भी बन जायगा। स्वेच्छाचारीके लिए इससे बढ़कर अधोगति क्या हो सकती है?

अपनेको 'मानव' कहलानेकी इच्छा रखनेवालेके लिए क्या कभी धर्म-निरपेक्ष रहना भी संभव है? क्या धर्म-निरपेक्ष हो चलनेवालेको भी कभी 'मानव' कहा जा सकता है? फिर धर्म त्यागकर रहना कैसे उचित कहा जायगा? आखिर मानव धर्म-निरपेक्ष रह ही कैसे सकेगा? मनुष्य-जन्म प्राप्तकर जीव किस तरह व्यवहार करे, यही तो धर्म सिखलाता है? मनुष्य-जन्मके अनुरूप विवेक-विचारपूर्वक व्यवहार करनेके नियमोंका ही तो वह उपदेश देता है? यदि कहें कि मानव होकर भी उसके लिए मानवधर्मके अनुसार चलना अत्यन्त कठिन हो रहा है इसीलिए वह पशुकी तरह व्यवहार करता है, तो पूछा जा सकता है कि क्या फिर उस मानवके लिए पशुकी तरह चरना और पगुरना भी

संभव है ? यदि कहें कि केवल अनियन्त्रित विषयसेवनके बारेमें ही वह पशुधर्मका स्वीकार करता है, तो क्या मानव होकर पशुधर्मके अनुसार व्यवहार उसकी अवनति नहीं मानी जायगी ? कथंचित् यह भी मान लिया जाय कि वह यह अधोगति स्वीकार करके भी पशुओंकी तरह विषय-सेवन करता है, तो वहाँ भी उसे नियत समयमें मैथुनादिके नियम पालने ही पड़ेंगे, इस तरह क्या वहाँ भी उसके बहकते मनको शान्ति-सन्तोष मिल सकता है ? कुछ भी हा, थोड़ी देरके लिए यही मान लिया जाय कि पशुधर्मके अनुसार चलना ही उसके लिए अभीष्ट है, तो वह भी एक धर्म ही तो होगा, फिर धर्म-निरपेक्ष जीवन वितानेका उसका प्रण कहाँ टिका रहा ? आश्चर्यकी बात है कि जब परमात्मा द्वारा निर्धारित धर्म प्राणिमात्रमें दीख पड़ता है, श्रुति-धर्मानुसार—'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्'—जब अखिल विश्व इस धर्ममें ही स्थित है, परमेश्वर द्वारा तत्तत् प्राणी और पदार्थ (वस्तु) के अनुसार निर्धारित धर्मसे ही यह सारा जगत् चल रहा है, जब परमात्म-निर्दिष्ट धर्ममें ही उन सभी प्राणि-पदार्थोंका अन्तर्भाव ह ता है, जब अखिल प्राणि-पदार्थयुक्त इस विश्वकी धर्ममें ही प्रतिष्ठा है, और जब तत्तत् धर्मके कारण ही तत्तत् प्राणि-पदार्थ एवं तत्तत् जाति अपना अस्तित्व बनाये हुए है तथा धर्मसे चलनेपर ही सुख मिलता है तब भला धर्मका त्यागकर कौन, कब, किसलिए और कैसे रह सकता है ?

आखिर धर्म हमें यही तो सिखाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने नातेके अनुसार दूसरे व्यक्ति या भिन्न-भिन्न समाजके साथ कैसा वर्ताव करे ? समाज उस-उस व्यक्तिके साथ किस तरहका बर्ताव करे ? और किस तरहका बर्ताव करनेपर इहलोक तथा परलोकमें सुख मिल सकता है ? जगत्पिता परमात्माने तत्तत् प्राणि-पदार्थोंको लक्ष्यकर जो नियम बना दिये, वे ही 'धर्म' शब्दसे कहे जाते हैं। मातृ-धर्म, पितृ-धर्म, पुत्र-धर्म, सती-धर्म, पति-धर्म, स्त्री-धर्म, पुरुष-धर्म, वर्ण-धर्म,

आश्रम-धर्म, व्यक्ति-धर्म, समाज-धर्म, राज-धर्म, प्रजा-धर्म आदि सभी को 'धर्म' नाम दिया गया है। प्रत्येक प्राणि-पदार्थ अपने तत्तत् धर्मसे व्याप्त है। विभिन्न प्रसंगों और विभिन्न विषयोंमें एक-दूसरेसे एक-दूसरे-को, और सभीसे सभीको यथायोग्य सहायता प्राप्त होकर ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सुख जिससे मिलता है वही धर्म है। वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक, लौकिक, पारलौकिक आदि सभी नियमोंका 'धर्म' शब्दमें अन्तर्भाव हो जाता है। धर्म-निरपेक्षतासे व्यक्तिकी तरह समाजका भी निर्वाह सम्भव नहीं। धर्म-निरपेक्षतासे जैसे एक कुटुम्ब नहीं चला सकते, वैसे ही राज्य चलाना भी सम्भव नहीं। कुटुम्बकी तरह ही राज्यमें भी 'आज्ञाकारी' और 'आज्ञाधारी' दोनोंका रहना अनिवार्य है। प्रजा द्वारा राजा या मन्त्रियोंकी आज्ञाका पालन करना राज-प्रजा-धर्म है। जब सिद्धान्ततः धर्मकी अपेक्षा ही नहीं (धर्म-निरपेक्ष रहा जायगा) तो इसका अर्थ होगा—उपर्युक्त राज-प्रजा-धर्मकी भी अपेक्षा नहीं। फलतः कोई भी किसीकी आज्ञाका पालन नहीं करेगा। तब तो अराजकता मच जायगी और शासन ठप पड़ जायगा। ध्यान रहे कि जिस कुटुम्ब या राज्यमें हरएक व्यक्ति नेता बन जाता है, प्रत्येक अपने व्यक्तिगत महत्त्व-पर दृष्टि रखता है, अपनेको सयाना मानता है, वह कुटुम्ब और वह राष्ट्र शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। और जिस कुटुम्ब या राज्यके व्यक्तियोंमें सचाईका व्यवहार, उत्थानकी लगन, परस्पर प्रेम, आज्ञाधारकता, बुद्धि, एकता, धर्म, नीति और आस्तिक्य बुद्धि हो वह कुटुम्ब या राष्ट्र कभी नष्ट नहीं हो सकता। सारांश, धर्म-निरपेक्षतासे वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राजनीतिक या पारमार्थिक—कोई भी व्यवस्था सुव्यवस्थित रूपमें कभी चल ही नहीं सकती।

धर्म और शासन-संस्था

प्रजा द्वारा पालनीय नियम ही 'कानून' कहे जाते हैं। वैयक्तिक एवं सामाजिक हितके साधन नैतिक, धार्मिक, पारमार्थिक आदि नियमोंके

पालनपर ही प्रजाका कल्याण निर्भर है। ये कानून ऐसे होने चाहिये जो प्रजाके सुख, उसकी सर्वविध उन्नति एवं क्रमशः उसके मोक्षके भी साधक हों। वे न तो केवल ऐहिक हों और न केवल पारमार्थिक ही। दूसरे शब्दोंमें वे नियम सभी जातियोंके अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनोंके साधक होने चाहिये। किन्तु ऐसे नियमोंका बनाना सर्वसाधारणके लिए सम्भव नहीं। धर्मशास्त्र या कानून बनानेवालेको कुलीन और परमात्माकी विभूति (स्वरूप) ही होना पड़ता है। हमारे वेद परमेश्वर द्वारा रचे गये हैं। जिन-जिन विशुद्ध, विमलात्मा लोगोंके अन्तरमें उनका स्फुरण (भान) हुआ उन-उन लोगोंने 'स्मृति' नामक ग्रन्थ रचे हैं। इन विभूतियों द्वारा रचे गये स्मृति-ग्रन्थोंको ही 'धर्मशास्त्र' कहा जाता है। धर्मशास्त्रका सीधा अर्थ है—'कानूनकी पोथी'। ये सभी स्मृतिकार त्रिकालज्ञ, परमात्माके सगुण-निगुण रूपोंका साक्षात्कार करनेवाले, सर्वत्र समबुद्धि, राग-द्वेषशून्य, वेद-वेदान्तमें निष्णात, सर्वात्मभावसे स्थित, नीति-न्यायसम्पन्न और व्यवहार एवं परमार्थ जाननेवाले ब्रह्मनिष्ठ ही रहे। वास्तवमें ऐसे ही लोगोंको धर्म बतलानेका अधिकार है। कानून बनानेवाले लोग ऐसे ही होने चाहिये।

ध्यान रहे कि बैलगाड़ी दो पहियोंसे चलती है, ठीक इसी तरह जीवन भी ऐहिक और पारलौकिक द्विविध उत्कृष्ट साधनोंके सहारे ही भलीभाँति चल पाता है। जैसे दो पहियोंमेंसे किसी भी एकके न रहनेपर गाड़ी चल नहीं पाती वैसे ही लौकिक या पारमार्थिक किसी भी एक साधनके अभावमें जीवन चल ही नहीं सकता। जिस तरह दोनों पहियोंके होनेपर ही बैलोंके लिए गाड़ी खींचकर ले जाना सुलभ होता है उसी तरह प्रजाके बीच ऐहिक और पारलौकिक दोनों साधनोंके होनेपर राज्यसंचालक राज्यशासन सुव्यवस्थित चला सकते हैं। जैसे गाड़ी, पहिये और बैल अच्छे होनेपर ही गाड़ीवानके लिए गाड़ी चलाना सुलभ होता है, ठीक वैसे ही सुप्रजा, उसकी ऐहिक-पारलौकिक प्रगति

और सुव्यवस्थित शासन-पद्धतिके होनेपर ही किसी राजा या मन्त्रीके लिए कोई राज्य चलाना सुलभ होता है। जिस तरह नीति और धर्मका अभेद्य सम्बन्ध है, ठीक उसी तरह धर्म और उत्कृष्ट राज्यपद्धतिका भी परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है।

'मिथ्या तेंचि झालें सत्य। सत्य तेंचि झालें असत्य।
माया विभ्रमाचें कृत्य। ऐसें असें पाहतां॥
असत्य अंतरीं बिबलें। न सांगतां तें दृढ झालें।
सत्य असोनी हारपलें। जेथील तेथें॥
सत्य असोनि आच्छादिलें। मिथ्या असोनि सत्य झालें।
ऐसे विपरीत वर्तलें। देखत देखतां॥'

मानवीय जीवनका दिग्दर्शन कराते हुए श्रीसमर्थ लिख हैं कि माया-की लीला कुछ ऐसी है कि मिथ्या सत्य हो जाता और सत्य मिथ्या जान पड़ता है। असत्य मानवके हृदयमें छा गया और यद्यपि किसीने उसका उपदेश नहीं दिया, तथापि वह दृढ़ भी हो गया, पर जो सत्य है उसका मानवको पता ही नहीं—वह जहाँका तहाँ गायब हो गया। देखिये तो प्रत्यक्ष आँखोंके सामने देखते ही देखते यह हाल हो रहा है कि सत्य शाश्वत होकर भी ढँक रहा है और मिथ्या नश्वर होकर भी सत्य-सा हो रहा है। गोस्वामीजी भी लिखते हैं—

'रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि॥'

एक बढ़ी नदीके रूपकसे संसारका वर्णन करते हुए श्रीसमर्थ लिखते हैं—

'संसार म्हणजे महापूर। माजीं जळचरें अपार
डंखूं धावती विखार। काळसर्प॥
आशा ममता देहीं बेडी। सुसरी करताती तडातोडी
नेऊन दुःखाचे सांकडीं। माजी घालती॥

अहंकार नक्रें उडविलें। नेऊन पाताळीं बुडविलें।
तेथोनिया सोडविलें। न वचे प्राणी॥
काम मगरमिठी सुटेना। तिरस्कार लागला तुटेना।
मद-मत्सर ओहटेना। भुली पड़ली॥
वासना धामिण पडली गळां। घालून वेटाळे वमी गरळा।
जिव्हा लाळी वेळोवेळा। भयानक॥'

यह संसार एक बहुत बढ़ी हुई नदी है। इसमें अनेक जलचर बसते हैं और विषैले कालसर्प काटनेके लिए दौड़ते हैं। इस महानदीमें आशा, ममता और देहबुद्धिरूप घडियाल मनुष्यको अपनी ओर खींच-कर संकटमें डाल देते हैं। अहंकाररूपी मगर पकड़कर पातालमें ले जाता और डुबो देता है, जहाँसे फिर प्राणी बाहर निकल नहीं सकता। कामरूपी मगरके पंजेसे मनुष्य छूट नहीं पाता, तिरस्कार पीछे ही लगा रहता है और मद-मत्सर न घटनेसे मनुष्य भँवरमें पड़ जाता है। वासनारूपी नागिन उसके गलेमें लिपट जाती और जीभ लपलपाती भयानक विष उगलने लगती है। श्रीसमर्थ आगे लिखते हैं—

'बहुतेक आवर्तीं पडले। प्राणी वाहतचि गेले।'

इसी प्रकार प्राणी इस संसाररूपी महानदीके भँवरोंमें पड़े बहते ही चले जाते हैं। प्रश्न होता है कि क्या उसमेंसे भी किसीने छुटकारा पाया और पाया तो किस साधनके सहारे? इसपर वे लिखते हैं—

'जेहीं भगवंतास वोभाईलें। भावार्थबळें॥'
'देव आपण घालून उडी। तयासी नेलें पैलथडी॥'

अर्थात् उस संकटके समय भी जो भक्तिभावके साथ भगवान्‌को पुकारता है तो भगवान् स्वयं उस नदीमें कूदकर उस डूबतेको पार लगाते हैं। सारांश, शरणागतको भगवान् उससे भी पार उतार देते हैं। किन्तु

उसमें पड़े अन्य अभक्त लोग तो बहते ही चले जाते हैं—'थेर तीं बापुडीं। वाहतचि गेलीं॥' इन बह रहे लोगोंको ही हमें किनारे लगाना चाहिये।

'कवितावली' में श्रीगोस्वामीजी भी कहते हैं—

'जहाँ जमयातना घोर नदी, भट कोटि जलच्चर दन्त-टेवैया।
जहँ धार भयंकर, वार न पार, न वोहितु नाव, न नीक खेवैया।
'तुलसी' जहँ मातु-पिता न सखा, नहिं कोऊ कहूँ अवलंव-देवैया।
तहाँ विनु कारन रामकृपाल, विसाल भुजा गहि काढ़ि लेवैया॥'

कानून और मानवजीवन

कानून बनाते समय इसका विचार करना अत्यावश्यक है कि उनसे किस प्रकार मानव-जीवन सर्वतोपरि निर्दुष्ट हो सकेगा। कानून नैतिकता बढ़ानेके लिए ही बनाये जाते हैं। समाजमें व्याप्त निकृष्ट, निषिद्ध और दुष्ट प्रवृत्तियोंका निर्मूलनकर कष्टोंसे बचनेके लिए समाजमें सत्प्रवृत्ति बढ़ानी पड़ती है। व्यक्ति और समाजके शाश्वत कल्याणकी दृष्टिसे आवश्यक है कि दण्डभयकी अपेक्षा हृदयका ही परिवर्तन होकर हर-एकमें सन्मार्ग-प्रवृत्तिका उदय हो। इसका भी विचार आवश्यक है कि किस तरह हम अपना जीवन सत्यकी नींवपर खड़ाकर शाश्वत सुखमय बना सकेंगे। और तदनुसार ही व्यवहार्य नियम बनाने चाहिये। ध्यान रहे कि यह कराल काल हमलोगोंकी जीवनभूमिपर देहाभिमान, व्यामोह, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, असूया, तिरस्कार, दंभ, दर्प आदि सुदृढ़ सूत्रोंसे बुने इस संसाररूपी जालको फैला हमें निगल जानेके लिए सदैव ताकमें रहता है। सभी उत्पन्न प्राणी जालबद्ध पक्षीकी तरह मृत्युके इस जालमें फँसे ही हैं। एकका दुःख ही

सभीका दुःख है। अतएव समस्त मानवजातिका ही कर्तव्य है कि वह एकमत और एकलक्ष्य हो इस कालपाशसे छुटकारा पानेकी सोचे तथा परस्पर एक-दूसरेकी सहायता करे। जिस समाजमें निरपेक्ष प्रेम, हार्दिक सहयोग, हितदृष्टि, मृदु-मधुर वचन, उत्कृष्ट शील, दूसरोंकी वस्तुओंके प्रति निरपेक्षता, परस्त्रीमें मातृदृष्टि, अखिल मानवोंके प्रति अपनापन, परमात्मस्वरूपके प्रति आत्मीयता, सचाईका व्यवहार, अन्तर्बाह्य पवित्रता आदि सद्गुण होंगे वही सच्चे अर्थमें मानव-समाज माना जायगा।

ध्यान रहे कि इस मानव-देहमें क्षुद्रबुद्धिको कहीं अवकाश ही नहीं है। और न स्वार्थको ही यहाँ कहीं जगह है। वास्तवमें निर्दुष्ट, अति-पवित्र आचरणसे उज्ज्वल हो मुक्त होनेके लिए ही हमें यह नर-तनु मिली है। श्री गोस्वामीजी कहते हैं —

'बड़े भाग मानुस तनु पावा। सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थहिं गावा॥
साधन धाम मोक्षकर द्वारा। पाई न जेहि परलोक सँवारा॥'

'सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछताई।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाई॥'

श्रीसमर्थ भी कहते हैं—

'या नरदेहाचेनि आधारें। नाना साधनांचेनि द्वारें।
मुख्य . सारासारविचारें। बहुत सुटले॥
पशुदेहीं नाहीं गति। ऐसें सर्वत्र बोलती।
म्हणोनि नरदेहींच प्राप्ति। परलोकाची॥'

इस नरदेहके सहारे, नाना साधनों द्वारा, और विशेषकर सारासार-विचारसे, बहुतेरे मुक्त हो गये। सभी लोग जानते हैं कि पशुदेहसे प्राणीकी कभी गति नहीं है। एकमात्र नरदेहसे ही उसे परलोक मिलता है।

'धन्य धन्य हा नरदेहो। येथील अपूर्वता पाहो।
जो जो कीं जे परमार्थ लाहो। तो तो पावे सिद्धीतें॥'

इसीलिए नरदेहकी स्तुति करते हुए वे कहते हैं—यह नरदेह धन्य है। इसकी अपूर्वता देखिये कि इसके द्वारा जिस-जिस परमार्थकी इच्छा की जाती है वह सब सिद्ध हो जाता है।

'देह परमार्थी लाविले। तरीच याचें सार्थक झालें।
नाहीं तरी व्यर्थंचि गेले। नाना आघातें मृत्युपंथें॥'

यह देह परमार्थमें लगायी जाय तभी इसका सार्थक है। अन्यथा नाना आघातों और मृत्युपथ द्वारा इसे व्यर्थ ही गया समझिये। वे आगे कहते हैं —

'परमार्थ जन्माचें सार्थक। परमार्थ संसारीं तारक।
परमार्थ दाखवी परलोक। धार्मिकासी॥
या परमार्थाकरितां। ब्रह्मादिकांसी विश्रामता।
योगी पावती तन्मयता। परब्रह्मीं॥
परमार्थी तो राज्यधारी। परमार्थ नाहीं तो भिकारी।
अरे या परमार्थाची सरी। कोणास द्यावी॥'

अर्थात् परमार्थमें ही जीवनकी सार्थकता है, परमार्थ ही संसारका तारक यानी पार उतारनेवाला है। यह परमार्थ ही धार्मिकोंको पर या श्रेष्ठ लोकमें पहुँचा देता है। परमार्थसे ही ब्रह्मादिकोंको विश्राम मिलता है और योगिजन परब्रह्ममें तन्मयता पाते यानी लीन हो जाते हैं। जो परमार्थी है वही राज्यधारी या राजा है और जिसके पास परमार्थ नहीं वही भिखारी है, इस लोकोत्तर महत्त्वशाली परमार्थकी किससे उपमा दें?

विनाशक अहङ्कार

'अन्ध पङ्गुन्याय' से समाजमें परस्परको परस्परके सहयोगकी अपेक्षा रहती ही है। एक जगह एक है तो दूसरी जगह दूसरा, यही इस समाजकी स्थिति है—

'कोठे कांहीं कोठे कांहीं। एक आहे दुसरें नाहीं।

चारों ओरसे थोड़ा-थोड़ा मिलाकर ही समाज और विश्वका काम चलता रहता है। 'स एव सर्वमभवद्यदिदं किञ्च'—एक परमात्मा ही स्वयं सर्वरूपसे सजा हुआ है, फलतः सब मिलकर ही एक परमात्माका रूप बन जाता है। अतः हमारी दृष्टि प्रत्येक प्राणिमात्रमें स्थित उस आनन्दघन परमात्माके रूपपर ही स्थिर हो जानी चाहिये—'सिया राम-मय सब जग जानी।' वहाँसे उसका हटना कभी ठीक नहीं। 'अतोऽन्य-दार्तम्'—कारण उसे छोड़ सभी कुछ दुःखजनक है। 'सुगा ऋतस्य पन्थाः'—मोक्षका मार्ग सुलभ और सुखरूप है। 'अहमनृतात् सत्य-मुपैमि'—मैं असत्य और जडरूप इस दृश्य जगत्से विवेक द्वारा अपने-को छुड़ा उस सच्चिदानन्दस्वरूपमें मिल जाता हूँ। इसीसे स्पष्ट है कि मानवका ध्येय और विचार कैसे हों। अतः हमारा कर्तव्य है कि 'स्वस्ति पन्थानमनुचरेम'—इस श्रुतिवचनानुसार हम सदैव अच्छे मार्गका—अभ्युदय और निःश्रेयस्के मार्गका—ही अवलम्बन करें। हम इस वैदिक-प्रार्थनाके अनुसार परमपदकी प्राप्तिके लिए परमात्मासे निरन्तर यही मनायें। 'असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय'—प्रभो! असत्य, अज्ञान और मृत्युसे व्याप्त इस जीवनमें-से आप हमें सत्य, प्रकाश एवं अमृतरूप अपनी ओर ले चलें। 'भवे भवे नातिभवे भवस्व'—प्रभो! पुनः-पुनः जन्म-मरणरूप इस संसारमें न फँसाकर इससे हमें छुड़ायें, जन्म-मरणसे रहित बना दें। 'अस्माकं सन्त्वाशिषः'—हमपर सदा आपका आशीर्वाद रहे। 'तस्य ते भक्ति-वांसः स्याम'—हम आपके ऐकान्तिक भक्त बनें।

'एको विश्वस्य भुवनस्य राजा ।'—कारण ऋग्वेद कहता है कि अखिल विश्वमें यदि कोई निष्कण्टक राजा हो तो वह एकमात्र ईश्वर ही है।

'भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति।'

श्रुति कहती है कि सूर्य, अग्नि, मृत्यु और वायु जैसे अति बलवान् देव भी एक उसी परमात्माके भयसे अविच्छिन्न रूपसे अपने-अपने दैनिक व्यवहारमें लगे हुए हैं। यहाँ श्रुतिका आन्तरिक अभिप्राय यही है कि जब ये देव भी परमेश्वरके कहनेमें हैं तो मानवोंके लिए उसके आदेशानुसार चलना अनिवार्य ही है। निस्सन्देह यह परमात्मा सभीका एक, अखण्ड आनन्दरूप ही है। 'अभयं वै ब्रह्म'—उसका यह अनन्त, आनन्दघन स्वरूप सदैव अभयरूप ही होता है। इसी वास्तविक सत्यको हृदयमें रखकर हमें सदा कर्तव्यमें सावधान रहना चाहिये, व्यवहार-क्षेत्रमें परमेश्वरके प्रति सेव्य-सेवक भावना ही रखनी चाहिये, यही उपर्युक्त श्रुतिका वास्तविक अभिप्राय है। परमेश्वरकी सर्वेश्वरता दिखानेके लिए ही उसने यह बात कही है।

यहाँ श्रुतिको ईश्वर और जीवमें राजा-प्रजाका नाता दिखलाना ही विवक्षित है। आखिर व्यवहारमें भी आज्ञाधारक और आज्ञाकारकका भेद ठीक उसी रूपमें मानना पड़ता है। यदि उसे न मानें तो कोई भी काम चल नहीं सकता। दूसरे शब्दोंमें व्यावहारिक रंगभूमिपर उतरने-पर परमेश्वर राजा या स्वामी और सभी जीव उसके प्रजाजन ही मानने पड़ते हैं। यहाँ सेव्य-सेवकभाव भी अर्थतः प्राप्त हो जाता है। और फिर सेवकका सेव्यसे भय एवं भक्ति करना स्वाभाविक ही सिद्ध होता है।

'देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चला मतिः॥'

महावीर हनुमान्ने भगवान् रामचन्द्रसे कहा है कि भगवन्! देहबुद्धिसे दास, जीवबुद्धिसे अंश और आत्मबुद्धिसे—अहन्ताकी स्मृति तुममें लीन हो जानेकी समाधिस्थितिमें तुम्हारे सिवा अन्य कुछ भी शेष न रहनेके कारण—तुम ही मैं हूँ, यही मेरा दृढ़ निश्चय है। हनुमान्जीकी तरह सभीको ऐसा ही कहना पड़ता है, अन्यथा काम ही नहीं चल सकता। इसी गूढ़ अर्थसे उपर्युक्त श्रुतिमें 'भीषा' यह शब्द रखा गया है।

सो ।नेकी बात है कि उस परमात्माकी शरण न जाकर उसके राज्यमें रहना कभी संभव है? वास्तवमें परमात्माका शासन विश्वके उत्पत्तिकालसे ही शुरू हुआ है। सारी घटनाएं एकमात्र उसीके आदेशसे घटती हैं। मानवोंमें चक्रवर्त्ती, देवोंमें इन्द्र और अधिकारियोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर—सभी परमात्माके आज्ञाधारी हैं। फिर यह अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं कि सभी जीव उसकी आज्ञाओंका पालन करें। जो यौवन, ऐश्वर्य, प्रभुत्व, ज्ञान आदिके गर्वसे उन्मत्त हो अविवेकसे यह कहे कि 'मैं ईश्वरकी सत्ताके समक्ष कभी सिर न नवाऊगा', तो क्या वह हास्यास्पद न होगा? ध्यान रहे कि वह दयालु परमात्मा ऐसी स्थितियाँ उपस्थितकर जीवका यह गर्व मिटा देता है जहां उसकी सत्ताके स्वीकारके बिना कुछ हो ही नहीं सकता, और हुआ भी तो टिक नहीं सकता। उसके सामने किसीका भी अखर्व गर्व टिक नहीं पाता। अभिमानी पुरुषको अन्ततः अपने कियेकी क्षमा माँगनी ही पड़ती है। गर्भधारणके दिनसे ही परमात्माका शासन शुरू होता और वह अन्ततक अविच्छिन्न बना रहता है। भला कौन उसकी सत्ताकी उपेक्षा कर सकता है? सच तो यह है कि परमेश्वरकी सत्ता मान लेनेके बाद ही गर्भमें पिण्ड बढ़ने लगता है और हाथ-पैर आदि अंगोंसे पूर्ण

देह बन जाती है। फिर उसमें प्राण आता और 'अहम' या 'मैं' की संवेदना उत्पन्न होती है। नौ मास पूरे होनेपर इस बाह्य सृष्टिमें प्रवेशार्थ वह परमात्माकी सत्ताको प्रणाम करके ही गर्भसे बाहर निकलता है। गर्भमें और उससे बाहर जीवनभर तथा मरनेके बाद पुनर्जन्मकी नव-घटनामें भी, किम्बहुना मोक्षतक हरएक प्राणी परमात्माके शासनके अधीन रहता है। अन्ततः मोक्षके भी परमात्मैक्य-रूप होनेसे उस परम स्थितिमें भी सिवा परमात्माके कुछ भी नहीं रहता।

ध्यान रहे कि यह समस्त प्राणि-पदार्थ जलमें मछलीकी तरह बाहर-भीतर व्याप्त एकमात्र परमात्माके शासनमें ही रहता है। परमात्म-सत्ताके सिवा और कुछ भी नहीं है। 'सत्तामात्रमिदं सर्वम्'—परमात्माकी सत्ता ही विश्वाकारसे भासती है। परमात्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। अज्ञानवश परमात्माके अवर्ण्य माहात्म्यको न जान जीव व्यर्थ ही गर्व करता है। आग छूते ही छूनेवालेको जला देती है, उसके लिए उसे दावे-फैसलेकी बाट नहीं जोहनी पड़ती। परमेश्वरकी सत्ता भी ठीक इसी तरह होती है। आश्चर्य है कि जब ये प्राकृतिक नियम इस तरह अपने स्वभाव और प्रभावसे बलात् हरएकको नीचा दिखाते हैं, तब भी यह जीव परमात्माकी उस असीम सत्ताको कैसे भूल जाता है। जब कि यह ईश-सत्ता इतने स्पष्ट रूपसे अपनी सामर्थ्य दिखा परमात्माकी निरंकुशताका दृढ़ विश्वास दिलाती है, तब भी इस जीवको अभिमानमें चूर देख किसे इसकी अल्पज्ञतापर तरस न आयेगा ? बड़े खेदकी बात है कि लोग व्यर्थ ही गर्व और अविवेकके शिकार हो परमात्माके कठोर दण्डके भागी बनते हैं।

स्मृतियोंद्वारा मार्गदर्शन

इन अविवेकी जीवोंकी दीपकपर मरते पतंगोंकी-सी दशा देख परमात्माकी महिमासे सुपरिचित, ब्रह्मनिष्ठ, सदय महात्माओंको तरस

आ जाता है—उनका हृदय पिघल जाता और वे इनके उद्धारकी बातें बतानेको प्रवृत्त होते हैं। महात्माओंको धर्मोपदेशका यह अधिकार पहलेसे चला आ रहा है। वे वेदशास्त्रोंका गंभीर मननकर उनका हार्दिक अभिप्राय खोल रख देते हैं। वास्तवमें ऐसे ही लोग नियम या कानून बनानेके अधिकारी हैं। पीछे कहा जा चुका है कि तत्तत् अधिकारानुरूप स्व-परहितार्थ मानव-जाति द्वारा आचरणीय नियम ही कानून हैं; और सर्वाद्य, सार्वकालिक एवं सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा सृष्टिकी उत्पत्तिके साथ ही प्रजाके अभ्युदय-निःश्रेयसके निमित्त बनाये गये सार्वकालिक नियम-ग्रन्थ वेद ही हैं। इन वेदोंका वास्तविक मर्म शम-दमादिसम्पन्न, वेद-वेदाङ्गपारंगत, आत्मसाक्षात्कारी महात्मा ही जान सकते हैं।

'न ह्यनध्यात्मवित् कश्चिद्वेदार्थं ज्ञातुमर्हति।'

सिवा ब्रह्मज्ञानीके और कोई वेदका वास्तविक अर्थ जान नहीं सकता, परमात्मप्रणीत वेदका वास्तविक अर्थ उसके कृपापात्र ब्रह्मज्ञानियोंके अन्तरमें ही स्फुरित होता है। यही भाव 'ऋषयो मन्त्रकृतो मन्त्रविदो मन्त्रद्रष्टारः'—इस वचनमें निहित है।

आरंभमें इसी प्रकारके ऋषियोंको वेदोंका अर्थ समझमें आया और उन्होंने सर्वसाधारणको उसे समझाकर बताया—कानून बनाये। उनके बनाये कानूनके ग्रन्थ ही स्मृतियाँ हैं।

'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।'

धर्मरहस्य जाननेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए एकमात्र वेद ही प्रबल प्रमाणग्रन्थ है। उस वैदिकधर्मको केवल अपनी बुद्धिसे न जान स्मृति (गाइड) द्वारा ही जानना चाहिये। कारण धर्मोपदेशक वे सभी स्मृतिकार वेद-वेदांगमें निपुण और तपस्या द्वारा वेदोंका सारा रहस्य अपने आचरणमें ला परमात्माका साक्षात्कार किये हुए थे।

तत्तत् कालमें पूछे गये धर्मविषयक प्रश्नोंके समुचित उत्तर उस-उस समयके ऐसे ही महात्माओंने दिये हैं।

'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।'

महाकवि कालिदास भी कहते हैं कि धर्मके विषयमें सन्देह उपस्थित होनेपर ऐसे सज्जनों और महात्माओंका हृदय जिसे उचित कहे, जिससे उनकी आत्मतुष्टि हो, वही प्रमाण है। [इस तरह धर्मनिर्णायक प्रमाणोंमें आत्मतुष्टिको भी एक प्रमाण माननेवाला महाकविका यह वचन 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' इस मनुवचन का भाष्य ही समझना चाहिये।] प्रत्येक स्मृतिका उपक्रम देखनेपर स्पष्ट है कि वेदका रहस्य जानकर बनाये गये धर्मग्रन्थों को ही 'स्मृति' कहते हैं।

इन सभी स्मृतियोंमें 'मनुस्मृति' सर्वश्रेष्ठ है। 'यन्मनुरवदत् तद्भेषजम्' —साक्षात् वेद भी कहता है कि मनुस्मृति भवरोगका औषध है। ब्रिटिश शासनकालमें न्यायालयोंमें मनुस्मृति और अन्यान्य स्मृतियोंके आधारपर ही विचार और निर्णय होता रहा। अब तो हमें स्वराज्य ही मिल गया है, अतः हमें विश्वास है कि अब पहलेसे भी अधिक स्मृतियोंके आधारपर विचार होगा। कारण स्वराज्य इसीलिए चाहा जाता है कि धर्मानुष्ठान-में सुविधा हो, तीर्थों, क्षेत्रों और देवस्थानोंकी पवित्रता बनी रहे तथा उनकी रक्षा हो। तीर्थ, क्षेत्र और देवालय राष्ट्रकी पारमार्थिक निधि हैं। उनके पावित्र्यकी जितनी अधिक रक्षा की जायगी, और स्वयं उनका भी जितना अधिक संरक्षण होगा, उतनी ही लोगोंकी बुद्धि सुधरकर प्रजामें नीति, यश, पावित्र्य और सामर्थ्य बढ़ेगा।

आचारः परमो धर्मः

'यत्त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यद् गर्हन्ते सोऽधर्मः' —श्रुति कहती है कि आर्य जिन आचारोंकी, स्वयं आचरणकर,

प्रशंसा करते हैं वह धर्म है। और वे जिसे अपने आचरणमें नहीं लाते तथा त्याज्य बता निन्दा करते हैं वह अधर्म है। यहाँ 'आर्य' शब्दका अर्थ 'वन्द्य' या 'श्रेष्ठ' है। सारांश, वेद-शास्त्रवित्, आचारशील और आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न लोग जिसे 'धर्म' कहें, वास्तवमें वही धर्म है।

'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥'

वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि—ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण या बोधक हैं। ध्यान रहे कि अपनेको प्रिय लगनेवाले आचार या आत्म-सम्मत धर्मके बारेमें पहले भलीभाँति जाँच कर लेनी चाहिये कि 'यह वेद, स्मृति और सदाचारसे सम्मत है या नहीं।' तदनन्तर ही उसका अनुष्ठान करना चाहिये।

'महाजनो येन गतः स पन्थाः।' 'यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः।' 'यथा ते तेषु वर्तेरन्, तथा तेषु वर्तेथाः।'

(श्रुति-स्मृतिसम्पन्न, आचारशील, ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठजन जिस मार्गपर चलें वहीं धर्ममार्ग है। श्रौत-स्मार्त या आचारके विषयमें यदि तुम्हें कोई सन्देह उपस्थित हो तो वहाँ विचारशील, कर्ममें नियुक्त, स्वेच्छया कर्मपरायण, सरलमति, कामनावश विवेक न त्यागनेवाले ब्राह्मण उस प्रसंगमें जैसा व्यवहार करें वैसा ही तुम करो। इसी प्रकार यदि किसी पर कोई सन्दिग्ध दोष आरोपित हो तो वहाँ उपर्युक्त ब्राह्मणोंके आचार जैसा ही व्यवहार करो। इससे सदाचार या शिष्टाचारका महत्त्व सुस्पष्ट है।)

सारांश, जिस तरह घर्षण, छेदन, दाहन और ताडनरूप चतुर्विध परीक्षणके बाद ही स्वर्ण ग्राह्य होता है उसी तरह इन प्रमाणोंकी भी कसौटीपर कसकर, भलीभाँति परिशोधन और परिशीलनके बाद ही

आचार या धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये। 'हम करें सो कायदा' की नादिरशाही कभी उचित नहीं। 'हम जो बोलें वही वेद, जो बतायें वही कानून और जो कहें वही धर्म' यह स्थिति कभी भी आदरणीय नहीं। आज म्लेच्छोंको सम्पर्क, अंग्रेजी-शिक्षाके प्रचार और चरित्रहीन जातियोंकी सेवाके कारण जहाँ भारतसे आर्य-संस्कृतिका धीरे-धीरे ह्रास हो चला है वहीं पाश्चात्य विद्वान् उसका महत्त्व भी समझने लगे हैं। मैक्समूलर, शोपेन हर, एनी बेसेण्ट प्रभृति पाश्चात्योंके आचरणों एवं उनके ग्रन्थोंके परिशीलनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। आज कितने ही अंग्रेज मुमुक्षु वन संन्यस्तवृत्तिसे भारतमें रहकर आर्यग्रन्थों एवं आर्य-सिद्धान्तोंका अभ्यास कर रहे हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी-अपनी राष्ट्रभाषाओंमें वेद-शास्त्रादिके अनुवाद आदि किये और आज भी हो रहे हैं, जिन्हें देखनेपर उनकी गुणग्राहकताकी प्रशंसा किये बिना रहा नहीं जाता। स्वामी श्रीविवेकानन्द और स्वामी श्रीरामतीर्थने जबसे विदेशोंमें जाकर उन्हें भारतीय आर्य-तत्त्वोंका पाठ पढ़ाया तबसे तो उनकी दृष्टि इस ओर और भी अधिक आकृष्ट हो उठी जो दिनपर दिन बढ़ती ही जा रही है। 'दियातले अँधेरा' कहावत प्रसिद्ध होनेपर भी अपने उद्धार और उन्नतिके लिए हमें अब उसमें सुधार अवश्य करना चाहिये।

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः।'

अर्थात् बड़े लोग जैसा आचरण या व्यवहार करते हैं, नीचेके लोग वैसा ही आचरण करते हैं। उनके लिए इन बड़ों या नेताओंका अनुसरण किये बिना चलता भी नहीं। नेताओंकी भूलोंका प्रायश्चित्त उन्हें तो भुगतना ही पड़ता है, उनके इन अनुयायियोंको भी अकारण उसकी थोड़ी-बहुत आँच सहनी ही पड़ती है। अतः नेताओंको चाहिये कि इस बातका गंभीर विचारकर कि, 'मेरी भूलोंका पाप समाजको भुगतना

न पड़े', श्रुति-स्मृतिके अनुसार अपना आचरण सुधार लें। 'अविधिकृत नरकमश्नुते'—श्रुति कहती है कि श्रुतिस्मृत्युक्त विधिकी उपेक्षाकर किये गये किसी भी अविहित कर्मसे सीधे नरक ही प्राप्त होता है।

'आचारः परमो धर्मः'—श्रुति कहती है कि शुद्ध आचारका अनुष्ठान ही धर्म है। 'आचारात् किं न सिद्ध्यति'—आचारसे क्या नहीं पाया जा सकता ? आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' —अशुद्ध-आचार मानवका वेद भी उद्धार नहीं करते।

'अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसज्जश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति ॥'

विहित कर्मोंके त्याग और निन्दित कर्मोंके आचरण एवं इन्द्रिय-लोलुप बननेसे नर नारायण तो बनता ही नहीं, नरकका ही भागी हो जाता है।

'करोति पापमज्ञानान्नात्मनो वेत्ति च क्षयम्।
प्रद्वेष्टि साधुवृत्तांश्च स लोकस्यैति वाच्यताम् ॥'

समझानेपर भी जो अपना अज्ञान दिखाना न त्याग पापाचरण करता रहता है और जिसे एक न एक दिन मर जानेकी अनिवार्यताकी अनुभूति नहीं होती और जो सदाचारी एवं सम्मान्य महात्माओंकी निन्दा करता है वह निश्चय ही लोकापवाद (जननिन्दा) का पात्र बनता है।

'कर्मणा मनसा वाचा चक्षुषा च चतुर्विधम्।
प्रसादयति यो लोकं तं लोको नु प्रसीदति ॥'

जो अपने परिशुद्ध आचरणसे, उदात्त एवं पवित्र मनसे, मृदु-मधुर और सत्य हितोपदेशसे तथा निर्विकार और शान्त दयादृष्टिसे लोगोंको सन्तुष्ट रखता है, जनता अपने हितकारी उस व्यक्तिका सदैव सम्मान

करती है, उसके शब्दकी कीमत रखती है, उसके मतानुसार चलती और उसे सभी तरहसे सन्तुष्ट करनेके लिए हृदयसे जुट जाती है।

वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः

'विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत॥'

भगवान् मनु कहते हैं कि धर्म वही है जिसका वेद-शास्त्रसम्पन्न, सदाचारी मानव नित्य अनुष्ठान करते हैं और जो ऐसे राग-द्वेषशून्य, सर्वत्र समदृष्टि, आचारनिष्ठ सज्जनोंके मुखसे लोकहितकी दृष्टिसे अन्तः-स्फूर्ति द्वारा हृदयसे 'धर्म' नामसे बताया गया हो। ये धार्मिक नियम या कानून बहुमतसे तय नहीं किये जा सकते।

'अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजोविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥'

विधियुक्त ब्रह्मचर्याश्रमका पालन और वेदाध्ययनसे रहित तथा केवल ब्राह्मण-कुलमें पैदा होनेसे अपनेको ब्राह्मण माननेवाले हजारों व्यक्ति यदि एकत्र जुट जायँ तो वह 'परिषद्' कभी नहीं कही जा सकती। इस तरह जब केवल जातिसे ब्राह्मण होनेवालोंको भी 'परिषद्' में स्थान नहीं तो फिर दूसरोंकी बात ही क्या ? मनुके इस वचनसे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि धार्मिक नियमोंके विधायक वेद-शास्त्रसम्पन्न सदाचारी एवं आत्मनिष्ठ ब्राह्मण ही हो सकते हैं।

'एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥'

सांग वेदोंका अभ्यासकर और उनका रहस्य जान उसका आचरण करनेवाला एक ही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण जिसे धर्म कह दे वह 'श्रेष्ठ धर्म' माना जा सकता है, पर दस हजार अज्ञ मिलकर किसी बातको 'धर्म'

करार दें तो वह मान्य नहीं, वह धर्मका सच्चा निर्णय नहीं माना जा सकता। उस 'धर्म' के पहले एक अक्षर 'अ' लग जाता और वही अपना साम्राज्य जमा लेता है।

'उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥'

ब्राह्मणका जन्म केवल धर्मके लिए ही है। ब्राह्मण जन्मतः धर्मकी मूर्ति (साक्षात् धर्म) होता है। धर्मका पालन और प्रचार ही उसके कर्तव्य कर्म हैं। धर्मके पालनसे वह साक्षात् ब्रह्मरूप हो जाता है। प्रस्तुत श्लोकमें धर्मोपदेशका अधिकार एकमात्र ब्राह्मणोंको ही है, यह भगवान् मनुने स्पष्ट सूचित कर दिया है।

'आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत्॥'

ब्राह्मण यदि आचारभ्रष्ट हो जाय तो उसे वेदाध्ययनका फल नहीं मिलता, उसमें वेदाध्ययनका प्रभाव नहीं दीख पड़ता। वेदमें कथित ब्राह्मणकी सामर्थ्य और योग्यता उसमें पायी नहीं जाती। और यदि उसमें ये सब चीजें अपेक्षित हों तो केवल वेदाध्ययन ही उसमें कारण न होकर स्वयं उसे आचार-विचारसम्पन्न भी होना पड़ता है, यह भी महाराज मनुका कथन है। ब्राह्मण अन्य लोगोंके सम्पर्कसे आचारभ्रष्ट न हो और उसकी तपस्याका लाभ सभी वर्णोंको सुलभ हो, एतदर्थ स्पृश्यास्पृश्य-विचार विशेष रूपसे कहा गया है।

'वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते॥'

ब्राह्मणके लिए पवित्र वातावरणमें शुद्धाचार और विधि-विधानके अनुसार आलस्य छोड़ सदा वेदाध्ययन करना बताया गया है। एकमात्र वेदाध्ययन ही ब्राह्मणका मुख्य धर्म है, शेष अन्य कर्तव्य उपधर्म

गिने जाते हैं। वेदकी स्पष्ट आज्ञा है कि ब्राह्मण कभी भी वेदाध्ययन न छोड़े, उसे अवश्य करे।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।' 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः।'

इन ब्राह्मणोंके समक्ष जीवन-निर्वाहकी समस्या उपस्थित न हो और और ये दूसरोंके सम्पर्कसे बचे रहें, एतदर्थ प्राचीनकालमें राजा लोग 'अग्रहारों' का निर्माणकर अत्यन्त पवित्र स्थलमें इनके रखनेकी व्यवस्था करते थे। अग्रहारोंके निर्माणका यही मुख्य उद्देश्य रहा कि ब्राह्मणोंपर शहरी वातावरणका दूषित प्रभाव न पड़े और इस तरह समाज उनकी तपस्याके लाभसे वञ्चित न हो। प्राचीन राजा लोग अपने आधार और शान्तिकी पवित्रस्थलीके रूपमें ब्राह्मणोंके शुद्धाचारोंकी रक्षा करते और उनके द्वारा दिये गये धर्म-निर्णयका स्वयं पालन करते थे। और वह निर्णय भी उनके अन्तःकरणकी पवित्रतासे उतना ही शुद्ध रहता था। इस तरह परमेश्वरने वेद और तपःसामर्थ्यका एक वर्ग ही निर्माण-कर अन्य व्यवसायी समाजोंके लिए उनकी तपस्यासे लाभ उठानेकी व्यवस्था कर दी है।

वेदाध्ययन, और धर्मोपदेशके लिए भगवान्ने अपने मुखसे ही ब्राह्मणवर्णकी उत्पत्ति की और मुखसे उत्पन्न इस वर्णपर मुखका ही सारा भार सौंप दिया। ब्राह्मणका शरीर क्षुद्र भोगोंके लिए नहीं है, इसीलिए भगवान्ने उन्हें तपमें लगा दिया और उनमें तप प्रवृत्ति और भी बढ़ा दी। फलतः वे पवित्र वातावरणमें रहते, वेदका अध्ययन-अध्यापन आदि पवित्र कार्य चलाते, वैदिक कर्म और उपासनाका अनुष्ठान करते, तपसे वेदके गूढ तत्त्वको पहचानकर उसे आचरणमें उतारते और और निर्विशेष आत्मसुखमें तन्मय हो जाते थे। करुणावश अन्य वर्गोंके पथ-प्रदर्शनकी इच्छाकर निःस्वार्थभावसे विश्व-कल्याणार्थ कष्ट सहने वाला यह ब्राह्मण वर्ग, अपने पवित्र आचरण और दिव्य जीवनसे यदि मानवीय जीवनका एक आदर्श बन गया तो उसमें आश्चर्य ही क्या?

विदेशी नौकरशाहीके जमानेमें यह मर्यादा टूट जानेसे तपःसामर्थ्यपर रोक-सी लग गयी। किन्तु अब, जब कि हमें स्वराज्य प्राप्त हो चुका है, इसी तपःशक्तिका पुनरुज्जीवन क्यों न किया जाय? वस्तुतः वह अवश्य हो, यही परमेश्वरसे प्रार्थना है।

व्यवहार और परमार्थका समन्वय

आज कुछ लोग यह समझने लगे हैं कि 'इस वर्ण-व्यवस्था में विषमता है।' किन्तु श्रुति तो यही कहती है कि ये वर्ण एक ही परमेश्वरके अवयव हैं। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्०'—पुरुषसूक्तके इस मन्त्रमें स्पष्ट ही कहा गया है कि परमात्माके मुखसे ब्राह्मण, बाहुओंसे क्षत्रिय, ऊरुसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए। दूसरे शब्दोंमें ब्राह्मण परमात्माका मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू और शूद्र परमात्माके चरण हुए। इस तरह ये चारों वर्ण मिलकर परमात्माका एक शरीर बनता है, फिर उसमें विषमताको अवकाश कहाँ? आखिर इस आनन्दघन अद्वितीय परमात्मामें भेद भी कहाँ रहता है? परमेश्वरके सिवा और है ही क्या? और अखण्ड सच्चिदानन्द परमात्माके शरीरके इन अवयवोंमें उच्च-नीच भाव भी कैसे हैं? तत्तत् अवयवका कार्य तत्तत अवयव द्वारा सम्पन्न होते रहनेपर ही देहका पोषण होता है, और देहके रक्षण-पोषणके लिए वैसा होना भी चाहिये। क्या एक अवयवका कार्य दूसरा अवयव कर सकता है? क्या तत्तत् कार्यके लिए ही तत्तत् अवयवोंका निर्माण नहीं हुआ है?

'ज्या इन्द्रियास जो भोग। तो तो करी यथासांग।
ईश्वराचें केलें जग। मोडितां उरेना॥'

समर्थ कहते हैं कि जिस इन्द्रियके लिए जो विषय नियत है वह उसका भलीभांति ग्रहण करती है। यदि कोई ईश्वरके बनाये इस जगत् नियमका उल्लंघन करने चले तो वह टिक ही नहीं सकता।

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'
'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'

जिस तरह सभी अवयव पुष्ट हो अपना-अपना काम करें तो देह भी पुष्ट रहती है और मन प्रसन्न रहता है ठीक उसी तरह ये चारों वर्ण भी पुष्ट हो अपना-अपना काम करते रहें तो परमात्माका विराट् शरीररूप यह विश्व भी पुष्ट होता और परमात्मा प्रसन्न होते हैं।

सोचनेकी बात है कि पुरुषसूक्तका उपर्युक्त मन्त्र चारों वर्णोंको परमात्माके अवयव यानी परमात्मरूप बता क्या यह पाठ नहीं पढ़ाता कि हम परस्परका मिथ्याकल्पित भेदभाव और जीव-ईश-भेद मिटा तात्त्विक अभेदकी अनुभूति करते हुए तत्तत् उपाधियोंके अनुसार अपने-अपने औपाधिक कर्म भलीभाँति पूरे करें? भेदमें अभेदकी अनुभूति कराकर, अभिन्नताके बीच ही तत्तत् अवयवभूत वर्णोंके भिन्न-भिन्न कार्य उनके द्वारा सम्पन्न करवाकर क्या श्रुति भगवती व्यवहार और परमार्थका सुन्दर समन्वय नहीं करती? श्रुतिका यह रहस्यमय उपदेश सुननेपर असन्तोषके लिए स्थान ही कहाँ है?

'पुरुष एवेदं सर्वम्', 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्',
'आत्मैवेदं सर्वम्', 'अहमेवेदं सर्वम्।'

यह अखिल ब्रह्माण्ड और इसके बीच दिखाई पड़नेवाले सभी जीव-समूह—सभी कुछ परमात्मरूप ही है। असन्तोषके लिए कहीं कोई कारण नहीं। भगवती श्रुति हमें यही पाठ पढ़ा रही है कि हम अपने परमात्मरूपको पहचान, अपने-अपने औपाधिक कार्य न त्याग सुख-शान्तिके साथ उन्हें करते रहें। ईश्वर और वेद हमें यही आशीर्वाद देते हैं कि हम अपने-अपने वर्णाश्रमोक्त कार्य सुव्यवस्थित रूपसे सम्पन्नकर, परमात्माकी कृपाके पात्र बनें और परमात्माके स्वरूपको पहचान, उससे अभिन्न हो सुखशान्तिमयके दिव्य जीवनका आनन्द उठायें!

यदि विभिन्न वर्णोंके विभिन्न कार्यों पर ध्यान दिया जाय तो श्रुतिके इस उपदेशका औचित्य भलीभाँति समझमें आ सकता है। वेदका अध्ययन-अध्यापन और धर्मोपदेश मुखका कार्य होनेसे यदि वह ब्राह्मणोंके लिए कहा गया तो वह उचित ही है। इसी तरह चूँकि बाहुओंसे शरीरकी रक्षा होती है, इसलिए विराट् शरीर या राष्ट्रकी रक्षाका कार्य बाहुओंसे उत्पन्न क्षत्रियोंको सौंपना भी उचित ही है। व्यापारार्थ आवश्यक देशपर्यटन, गोरक्षा और खेती-बारी आदि सुपुष्ट जाँघोंपर ही निर्भर हैं, इसलिए जाँघोंसे उत्पन्न वैश्योंके जिम्मे पूर्वोक्त कार्य सौंपना उचित ही है। और चूँकि पैर पूरी देहका बोझ अपने ऊपर लेसारी देहकी सेवा करते ही हैं, इसीलिए यदि पैरसे उत्पन्न शूद्रोंके लिए सम्पूर्ण देह यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णोंकी सेवा कही गयी तो उसमें भी अनुचित क्या हुआ ? भगवद्गीता, मनुस्मृति और अन्यान्य पुराणोंमें भी वर्णधर्म कहे गये हैं। यदि उन्हें भी देखा जाय तो वेद-शास्त्रोक्त व्यवहार और परमार्थमें अक्षरशः मेल बैठ जाता है। अब प्रसंगतः यहाँ मनुस्मृति और भगवद्गीतामें कथित चारों वर्णोंके धर्मकर्मोंका तुलनात्मक विचार कर लिया जाय।

वर्णव्यवस्था परमात्मप्रणीत है

'अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥'
'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥'

अध्ययन करना और कराना, यज्ञ करना और कराना तथा दान करना और कराना—इन छः कर्मोंके अतिरिक्त मनोनिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह, पवित्रता, तप, शान्ति, सरलता, शास्त्रज्ञान, परमात्म-साक्षात्कार, आस्तिकता, श्रद्धा आदि भी ब्राह्मणके स्वाभाविक धर्म-कर्म हैं।

'प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समादिशेत्॥'
'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥'

प्रजाकी रक्षा, दान, यज्ञ, वेदाध्ययन, विषयोंमें अनासक्तिके अतिरिक्त शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, शत्रुको पीठ न दिखाना, प्रभुत्व आदि भी क्षत्रियोंके स्वाभाविक धर्म-कर्म हैं।

'पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वाणिज्यं च कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥'
'कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।'

गोरक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन, व्यापार, महाजनी, साहूकारी, ब्याज-बट्टा आदि वैश्योंके स्वाभाविक धर्म-कर्म हैं।

'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥'
'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।'

शूद्रोंके लिए परमात्माने केवल एक कर्म—द्वेष-असूयारहित हो निर्मत्सर भावसे इन तीनों वर्णोंकी सेवा करना नियत किया है। मनुस्मृतिके इस श्लोकसे स्पष्ट है कि मनु एवं अन्यान्य सभी मुनियोंको जो 'त्रिकालज्ञ' कहा गया वह यथार्थ ही है। कारण आगे किसी जमानेमें दूसरोंके कहनेमें आकर शूद्रोंमें असूया पैदा होगी, यह जानकर उन्होंने पहले ही उसका यहाँ परिहार कर दिया है। इसी तरह 'वर्णव्यवस्था परमात्मप्रणीत नहीं है' यह भी शंका आगे पैदा होगी, यह जानकर उसका भी 'प्रभुः समादिशत्' इस पदसे उन्होंने परिहार कर दिया गया है। भूमण्डलके सर्वप्रथम चक्रवर्ती महाराज मनुका कहना है कि वर्णोंके सभी धर्म-कर्म परमेश्वर द्वारा ही निर्धारित हैं। 'जन्मकर्म स्वभावजम्

इस भगवद्वचनसे भी स्पष्ट है कि जन्म और कर्म पूर्वजन्मीय कर्मवासना-के अनुसार तत्तत् व्यक्तियोंका जन्मजात स्वभाव ही है, और इसीलिए उन्हें छोड़ा भी नहीं जा सकता।

'सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥'

महाराज मनु कहते हैं कि उस अनन्त तेजःसम्पन्न परमात्माने उत्पन्न हुई सृष्टिकी रक्षाके लिए मुख, बाहू, उरू और चरणोंसे उत्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंको, तत्तत् वर्णोंके योग्य कर्मोंकी कल्पना कर, उन-उन कर्मोंमें लगा दिया।

जो यह विश्वास रखते हैं कि परमात्मा नामक कोई एक है और वही इस जगत्का स्वामी और हमलोगोंका मूलभूत स्वरूप है, उसके द्वारा निर्धारित कर्त्तव्योंका हमें पालन करना चाहिये और वैसा करनेपर ही हमें मोक्ष मिल सकता है—उनका कर्त्तव्य है कि कभी स्वधर्म न त्यागें। इसी तरह परमात्मा जगत्का संचालक, सर्वसमर्थ और सर्वज्ञ है। उसे अपने इच्छानुसार कोई काम करनेमें कुछ भी समय नहीं लगता। वही सबका पोषक और आधार है। उसका हमारा नाता केवल इसी जन्मका न होकर नित्य है। उससे वैर मोल लेकर काम नहीं चल सकता। वही हम सबका स्वामी या मालिक है। श्रुति और स्मृतियाँ उसकी आज्ञाएँ हैं। इन आज्ञाओंके पालनसे ही उसकी कृपा प्राप्त हो सकती है, और विना उसकी कृपाके स्वयं वह भी प्राप्त नहीं होता। राजा या मन्त्रियोंके सर्वथा वशकी बात है कि वे इन बातोंपर ध्यान दे तदनुसार स्वयं व्यवहार करें और दूसरोंसे भी करायें। दुःख भोगते रहनेकी अपेक्षा वह न हो, इसीका पहलेसे प्रबन्ध करना बुद्धिमानी है। अपने देहावयवरूप इस वर्णव्यवस्थाका नष्ट होना ईश्वरको कभी पसन्द नहीं आ सकता। फिर उसे मिटानेके लिए प्रवृत्त लोगोंके बारेमें वह क्या सोचता होगा, यह वे स्वयं ही समझ लें।

'भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि' इस वैदिक प्रार्थना की तरह हम भी परमात्मासे यही प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभो! हम लोगोंके अन्तरमें सत्सङ्कल्पकी पूर्तिका आग्रह बनाये रखें।' हम परमात्मासे मनाते रहते हैं कि 'आपके ये वर्णरूप अवयव हृष्ट-पुष्ट हो अपने-अपने नियमोंको पूराकर आपको सदा सन्तुष्ट करें।' वास्तवमें परमेश्वरकी इस सृष्टिमें 'विघातक' कुछ भी नहीं है। गंभीर विचार करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जिस तरह अवयवोंका नाश होनेपर देह रह नहीं सकती, उसी तरह वर्णाश्रमके नष्ट होनेपर आर्यावर्त और आर्यधर्म भी नहीं रहेगा। देशकी शान्ति-सुव्यवस्था खतरेमें पड़ जायगी। आदर्श वर्णाश्रमकी सुसम्बन्ध घटना ही आर्यधर्मकी विशेषता है। यतः परमात्माने वर्णाश्रमकी सुदृढ़ नींवपर इस सनातन वैदिक आर्यधर्मकी स्थापना की है, अतएव वह विश्वके आदिसे अन्ततक अचल है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि परमेश्वरकी अवयवरूप यह वर्णव्यवस्था उसके विराट् शरीरकी तरह ही शाश्वत (नित्य) है।

श्रुतिका अभिप्राय है कि एक शरीरके अवयवोंके बीच परस्पर जितनी एकवाक्यता पायी जाती है, विराट् शरीरके अवयव इन वर्णोंके बीच भी उतनी ही एकवाक्यता रहनी चाहिये। इसे इनकार भी कौन कर सकता है? आपत्तिकालमें एक दूसरेकी सहायता करनी ही चाहिये। किन्तु आपत्काल छोड़ और किसी समय किसीका भी अपना कर्म छोड़ना और दूसरेका कर्म करना न तो वेदको मान्य है और न ईश्वरको ही। इतना ही नहीं, ब्राह्मणोंके लिए तो आपत्कालमें भी सेवावृत्ति निषिद्ध कही गयी है यदि इस आर्यधर्मका रक्षक परमेश्वर न होता तो वह कभीका नष्ट हो गया होता। और वह आज और आगे भी नष्ट न होगा, यह हम लोगोंका दृढ़ विश्वास है। ध्यान रहे कि जाने या अनजाने यह वर्णव्यवस्था सभी देशोंमें चली आ रही है। किसी भी राष्ट्रके लिए यह उसके अवयवकी तरह ही अनिवार्य है। जब कि वहाँ भी

इन वर्णोंके कार्य आवश्यक हैं तब वर्णव्यवस्थाकी आवश्यकतासे इनकार कैसे किया जा सकता है ?

इसपर यह प्रश्न उठता है कि 'यह वर्णविभाग जन्मना है या कर्मणा ?' इसपर 'यह जन्मसे ही है' यही आर्यधर्मका उत्तर है।

'सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ।
अनुलोम्येन सम्भूता जाता ज्ञेयास्त एव ते ॥'

भगवान मनु कहते हैं कि ब्राह्मणादि चार वर्णोंमें भी, उस-उस जातिके बीच यथाशास्त्र सम्पन्न विवाहसंस्कारके बन्धनमें बँधे पति पत्नियोंसे उत्पन्न सन्तति ही उस-उस जातिकी मानी जाती है। यही मत सभी स्मृतिकारोंको मान्य है। आगेके इस मनुवचनसे तो 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' का न होना और भी स्पष्ट हो जाता है—

'यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥'

जो कोई हीन जातिमें जन्म लेकर भी लोभवश उत्कृष्ट जातिका कर्म करता है, राजा उसका सर्वस्व हरणकर उसे शीघ्र निर्वासित करे। मनुका यह वचन भगवान्के इस वचनसे भी मेल खाता है—

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥'

दूसरेके धर्म-कर्मोंके अनुष्ठानकी अपेक्षा अन्ततक अपने-अपने जाति धर्मोंका पालन ही श्रेयस्कर है, पर-जातियोंका आचरण खतरेसे खाली नहीं।

'सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।'
'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥'.

बिना मांगे खुले हुए स्वर्गद्वारकी तरह युद्धको क्षत्रिय पा जाते हैं, पार्थ ! फिर क्या वे सुखी नहीं ? धर्म और प्रजापालनके लिए किये

जानेवाले युद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिए श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है) इन क्षात्रधर्मानुकूल वाक्योंसे यही पता चलता है कि भगवान्ने अर्जुनको वर्णधर्मका ही उपदेश किया है। यतः जन्म पूर्वजन्मार्जित फल है, अतः तत्तत् जातिके तत्तत् कर्म उन-उनका जन्मजात स्वभाव और स्वाभाविक धर्म ही बन जाते हैं। उन्हीं कर्मोंमें उन्हें रुचि पैदा होती और उन्हींको वे प्रेमसे करते हैं। यदि ऐसा न होता तो आजतक वर्णव्यवस्था टिक ही नहीं सकता। गीताके इस अग्रिम श्लोकका भी यही अभिप्राय है—

'यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मंन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥'

(यदि तुम अहंकारकर युद्ध न करनेकी सोचोगे तो तुम्हारा वह निश्चय व्यर्थ ही जानो, कारण क्षात्र स्वभाव ही तुम्हें उसमें प्रवृत्त करके रहेगा।)

'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥'

धूएँसे व्याप्त अग्निकी तरह सभी कर्म सदोष होनेके कारण, अपने लिए प्राप्त सहजकर्म सदोष प्रतीत होनेपर भी कोई वर्ण उसे न त्यागे। इसीलिए अपनेसे श्रेष्ठ जातियोंके कर्म करनेका मोह परमात्माने मिटा दिया है।

स्वधर्मपालनमें ही सच्ची समता

जैसे हस्तपादादि अवयवोंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी देह एक ही होती है, वैसे ही विराट् पुरुषके अवयवरूप ब्राह्मणादि वर्णोंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी उन सबमें एकरूपसे स्थित परमात्म-शरीर एक ही है— यह बतलाती हुई श्रुति भगवती भिन्नता और अनेकताके बीच एकताका अनुभव करनेका पाठ पढ़ा रही है। आर्य वैदिकधर्मकी यह विशेषता

है कि वह व्यवहारके लिए आवश्यक भिन्नता और अनेकताको बि
मिटाये युक्तिसे सभीको अद्वितीय स्वरूपानुभवका लाभ करा देता है।

'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥'

(जिस अद्वैत आत्मदर्शनरूप ज्ञानसे अव्यक्तादि स्थावरान्त सभ
पदार्थोंमें नित्य और प्रत्येक विभक्त देहोंमें आकाशकी तरह अविभ
आत्मवस्तुको देखा जाता है वह सात्विक ज्ञान कहलाता है।) आर्यों
यही सर्वश्रेष्ठ संस्कृति है कि लोग केवल व्यवहारोपयोगी भिन्नता औ
अनेकताके बीच मोक्षहेतु स्वानुभवसिद्ध एकताका अनुभव करते हु
भी अपने अपने वर्णाश्रमोक्त धर्म-कर्मोंको सुव्यवस्थित सम्पन्न क
और सुख-शान्तिके साथ सम्पन्नकर दिव्य जीवन बितायें।

'भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।'

अनुभवमें अद्वैत-भावना रखकर केवल व्यवहारनिर्वाहार्थ बा
द्वैतका आचरण आर्योंमें परम्परासे चला आ रहा है। जब कि साधार
व्यक्ति भी असंभव और अनुचित आचरण करनेको नहीं बताते
परमात्मा उसे कैसे बतायेंगे? 'एकधैवाऽनुद्रष्टव्यः', 'नेह नाना
किञ्चन'—इसके विपरीत परमेश्वरके वचनरूप श्रुतियाँ तो य
कहती हैं कि सर्वत्र एक परमेश्वर ही व्याप्त है, यह देखें, वस्तुतः य
नानात्व बिल्कुल ही नहीं है। 'स एवाधस्तात्, स उपरिष्टात्, स ए
पुरस्तात्, स एव पश्चात्तात्, स दक्षिणतश्चोत्तरेण'—वह परमा
प्रत्येकके नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दाहिने, बायें सर्वत्र व्याप्त है।

'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।'

वही नारायण प्राणियोंके बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त है।

'समं हि सर्वभूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥'

जो ब्रह्मादि स्थावरान्त सभी विनश्वर प्राणियोंमें अविनाशी और निर्विशेष रूपसे स्थित परमात्माको देखते हैं, वास्तवमें वे ही सच्चा देखते हैं।

'समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्॥'

सभी प्राणियोंमें समान रूपसे स्थित उस अविनाशी निर्विशेष परमात्माको देखनेवाला, चूँकि अपने ही से अपनी आत्माका हनन नहीं करता, इसीलिए वह मोक्ष पाता है।

'सर्वभूतेषु यः पश्यद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥'

जो सभी प्राणियोंमें अपने वास्तविक भगवद्रूपका दर्शन करता है और सभी प्राणियोंमें भगवान्को देखता है वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ माना जाता है। उपर्युक्त श्रुति-स्मृति-पुराणादिके विभिन्न वचन आर्यधर्मका क्या पाठ पढ़ाते हैं, यह सहज ही समझा जा सकता है। इस तरह स्पष्ट है कि आर्यधर्म 'भेद' नामकी वस्तु अपने जन्मसे ही नहीं जानता। अतः हम सभीका कर्तव्य है कि अपने आचार, विचार और उच्चारके समय इसपर भलीभाँति ध्यान रखें।

'परमार्थासी बोललें साधन। तेंचि साधन मानिलें बंधन।
मोकळेपणें बंधन! सिद्धचि आहे॥
पवित्रपणाचा कंटाळा। म्हणे मी असेन मोकळा।
मग त्या अपवित्र ओंगळा। कोण पुसे॥
बंद राखेना नृपति। तेणें देशाचि होते फजिती।
उदंड लोक कैसे जिती। कोण्या प्रकारें॥
कोणी एक बंद ढळता। मग तेथें कैचि श्लाघ्यता।
मनुष्याची फजीती होतां। वेळ नाहीं॥

जेथें नाहीं सारासार। तेथें अवघा अंधकार।
नाना परीक्षेचा विचार। राहिला तेथें॥
सार आणि असार। अवघा झाला एकंकार।
तेथें वळावला अविचार। विचार कैंचा॥
वंद्य निंद्य एक झालें। तेथें हातां काय आलें।
उन्मत्त द्रव्यें जे भुलले। ते भलतेचि बोले॥
जगीं भेद कामा नये। वर्णसंकर करूं नये।
आपला धर्म उडवूं नये। अभिमान खोटा॥'

श्रीसमर्थ कहते हैं कि मनुष्य-शरीर परमार्थसाधनके लिए ही बना[illegible] गया है। अतः यहाँ जितने साधन हैं, सभी परमार्थप्राप्तिके लिए ही हैं[illegible] उन्हें यदि बन्धन माना जाय तो परमार्थसे ही हाथ धोना पड़ेगा[illegible] स्वैराचारमें सभी धार्मिक बन्धन छूट जाते हैं यह स्पष्ट सिद्ध ही है कि[illegible] पवित्रतासे घृणाकर जो यह कहता है कि मैं स्वतन्त्र हूँ, उस अपवि[illegible] मलिन व्यक्तिको कौन पूछेगा? यदि राजा स्वैराचारियोंपर बन्धन[illegible] लगाये तो उससे देशकी दुर्दशा ही होती है, वैसी स्थितिमें किस त[illegible] बहुजन समाज सुखसे जी सकेगा। यदि कोई एक भी धर्म-बन्धन [illegible] जाय तो उसमें बड़प्पनकी बात ही क्या? फिर मानवकी दुर्दशा होते दे[illegible] नहीं लगती। जहाँ नित्यानित्य-विवेक नहीं वहाँ अन्धेर ही अन्धे[illegible] है, फिर वहाँ परीक्षाके लिए अवसर ही नहीं। जहाँ सार और अस[illegible] एक हो जाय वहाँ अविचार ही मच जाता है, फिर वहाँ विचार[illegible] स्थान ही कहाँ? जहाँ वन्दनीय निन्दनीय और निन्दनीय वन्दनीय[illegible] माने जाते हैं वहाँ हाथसे सब कुछ निकल जाता है। मद[illegible] चाहे जो बकता है वैसे ही स्वैराचारी भी ब्रह्मवाद बकते हैं। जगत[illegible] भेद-बुद्धि रखना ठीक नहीं, पर वर्णसंकर कभी न किया जाय, अप[illegible] धर्म न छोड़ें पर व्यर्थका धर्माभिमान न करें।

समताका यह अर्थ नहीं कि जंगलके पेड़ोंको पानी नहीं डाला जाता तो बाग-बगीचोंके पेड़ोंमें भी पानी न दिया जाय। गायकी तरह मनुष्य-को भी चरी खिलायी जाय। अतः स्पष्ट है कि हरएकके वर्ण, जाति, शारीरिक धर्म और संस्कारोंका विचारकर उस-उसके अनुकूल पदार्थों-को सुलभ कर देना ही सच्ची समता है।

'न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते।'

सबके लिए एक ही आचार लागू नहीं किया जा सकता। सबके हितकी दृष्टिसे व्यक्ति और समाजको वास्तविक इहलौकिक-पारलौकिक उन्नतिमें बाधक बातोंको समूल दूर करना ही सच्ची समता है।

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

धन, पानी, पुत्र आदि प्रिय वस्तुओंका अपहरण किये जानेपर स्वयम्को जो जैसा दुःख होता है, दूसरेकी प्रिय वस्तुओंका अपहरण होनेपर उसे भी वैसा ही दुःख होगा—यह सोच-समझकर चलना ही समता है। अनिष्ट-प्राप्तिसे सभीको समान दुःख होता है, इसलिए सन्मार्गके आचरणमें भी किसीके लिए कष्ट या अनिष्टकर व्यवहारोंसे सदा बचना ही समता है। दुर्गुण, दुर्व्यसन, हिंसा, दुष्ट स्वभाव, क्षुधा, तृषा, शीतबाधा, दुःख, संकट, दारिद्र्य, रोग, अज्ञान आदि सभी अनिष्टोंके निवारणमें अपने-परायेका विचार न करना ही समता है। प्राणिमात्रमें गुण और अवगुण दोनों भरे हैं, अतः अपने-परायेका भेद न देखते हुए सभीके सद्गुणोंको बढ़ा, सबके दुर्गुण मिटाना ही समता है। अपने-परायेका भेद न करते हुए सभीके जीवन-निर्वाहमें बाधक न्यूनताओंको दूरकर सभीके लिए जीवनोपयोगी सुख-सुविधाएँ सुलभ करना ही समता है। व्यक्ति और समाजके दुर्गुणोंको न बढ़ाकर, उन-उनके सदाचरणसे जिस तरह अपना और दूसरोंका हित हो सके, इसपर ध्यान दे, स्व-परका विचार न कर सदुपदेश द्वारा सभीका 'हृदय-परिवर्तन' करना ही सच्ची समता है। तत्तत् देह-स्वभावके अनु-

सार हरएकके सुख-दुःखोंका विचार करना ही समता है। किसी व्यक्ति या समाजविशेषका स्वभाव-सा बन गया। कोई आचारसे यदि अपने और दूसरोंके लिए दुःखकारक न हो तो उसे न मिटाना और अनभ्यस्त नये एवं कष्टकारक आचारको उसपर बलपूर्वक न लादना ही समता है। अपने-परायेका विचार न कर धर्मशास्त्रके अनुसार न्याय देना ही समता है। सबको अपनी तरह देखना ही समता है। सबकी उन्नतिके लिए समान यत्न करना ही समता है। सबके बीच परमात्माकी समान सत्ता देखना ही समता है। उस-उस वर्णके लिए नियत तत्तत् कर्मोंकी सुविधा देकर सभीके दुःखकष्टोंका समभावनासे परिहार करना ही समता है। सबकी जीविकाकी समस्याको समान रूपसे हल करना ही समता है।

ध्यान रहे कि इसके विपरीत केवल वर्णसंकर किया जाय तो उसका फल गीतामें स्पष्टतः नरक ही बताया है—'संकरो नरकायैव।' इसे भुलाकर काम न चलेगा। यथासंभव परहित, परोपकारमें सदा लगे रहना, दूसरेका कभी अहित न करना, दूसरेके लिए अहितकर आचरणसे सदा बचना, व्यर्थ ही दूसरेकी हानि होनेके प्रसंगमें दुराग्रह त्याग अपनी बात वापस लेना, स्वप्नमें भी परपीडाका विचार न करना और अपने लिए दूसरोंको यथासंभव कष्ट न देना हरएकका अनिवार्य धर्म है। स्वयं नष्ट हो दूसरोंको नष्ट करनेवाला दण्डका भागी होता है। आर्योंका आचार अखिल मानव-जातिके 'आदर्श जीवन' के रूपमें प्रसिद्ध है। उसमें किसी भी तरहका हस्तक्षेप न करना विश्वहितकी दृष्टिसे अत्यावश्यक है। आर्यधर्मके आधारभूत श्रुति-स्मृति ग्रन्थोंके अभिप्रायानुसार सभीके हितपर दृष्टि रख आचरण करनेसे ही भारतीय राज्यपद्धति विश्वके लिए आदर्श हो सकेगी। तत्तत् वर्ण द्वारा तत्तत् कार्य करानेसे वंशपरम्परागत संस्कार सुरक्षित रहते हैं, समय और धनका अपव्यय नहीं होता, थोड़े समय और अल्प द्रव्यसे ही अच्छा कार्य

बन पड़ता है तथा जनताकी स्वाभाविक शान्ति भी भंग नहीं होती। यही आर्योंकी तात्त्विक दृष्टि है।

आश्रमधर्म व्यक्ति-विकासका सोपान

आर्यधर्ममें वर्णधर्म जितना ही आश्रमधर्मको भी महत्त्व दिया गया है। चार वर्णोंकी तरह आश्रम भी चार ही हैं। देखा जाय तो आर्यधर्ममें '४' अंकको अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। दूसरे शब्दोंमें ४ वेदों, ४ पुरुषार्थों, ४ मुक्तियों, ४ अवस्थाओं, ४ महावाक्यों, ४ आश्रमों और ४ वर्णोंकी चौकड़ीके बीच हमारा यह आर्यधर्म हीरेको तरह सुशोभित हो रहा है। जिस तरह तत्तत् वर्णके लिए आवश्यक कर्म करना धर्म और उसके विरुद्ध चलना अधर्म है, उसी तरह आश्रमानुसार चलना धर्म और उसके विरुद्ध चलना अधर्म है, यह आर्योंकी मान्यता है। 'ब्रह्मचर्याद् गृही भवेत्, गृहाद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्'; 'आश्रमादाश्रमं गच्छेत्'—यह श्रुति ब्रह्मचर्यसे गृहस्थ, गृहस्थसे वानप्रस्थ और वानप्रस्थसे संन्यास आश्रमके ग्रहणका विधान करती है। यह तो क्रमिक आश्रम-धर्मका पालन हुआ। किन्तु इसके सिवा भी विशेष अध्ययनकर एकदम आगेकी कक्षामें पहुँचनेकी तरह, ब्रह्मचर्याश्रममें ही वैराग्यका पूर्ण अभ्यासकर या ज्ञाननिष्ठ होकर बीचके गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमोंको छोड़ एकदम संन्यास आश्रम भी लिया जा सकता है, जिसमें 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' यह श्रुति प्रमाण है।

चार वर्णोंका सम्बन्ध जहाँ विश्वके समष्टि या सामुदायिक शरीरसे है वहीं इन चार आश्रमोंका सम्बन्ध विश्वके व्यष्टि या वैयक्तिक शरीरसे है। विद्याभ्यासके जीवन-विभागको 'ब्रह्मचर्याश्रम', दाम्पत्तिक जीवन-विभागको 'गृहस्थाश्रम' संसारसे वैराग्य होनेपर संन्यासकी प्रारंभिक तैयारीके विभागको 'वानप्रस्थाश्रम' और पूर्ण त्यागसे आत्म-साक्षात्कार मात्रके लिए या केवल आत्मनिष्ठ रहनेके लिए ही विहित अन्तिम जीवन-

विभागको 'तुरीयाश्रम' या 'संन्यासाश्रम' नाम दिया गया है। दण्ड-धारणादि बाह्य चिह्न केवल ब्राह्मणके लिए नियत होनेपर भी संन्यासकी यथा भूमिका प्राप्त होनेपर कोई भी संन्यस्त वृत्तिसे रह सकता है। ये हर एकके जीवनकी अवस्थाएँ हैं। इनका सम्बन्ध अखिल मानव-जातियोंसे है। फिर भी वर्णाश्रम सिद्धान्तका गंभीर मनन न करनेवालोंको ये वर्णाश्रम भावनाएँ संकुचित ही प्रतीत होती हैं।

ब्रह्मचर्य ही भावी जीवनकी नींव

'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥'

भगवान् मनु लिखते हैं कि गर्भ रहनेके दिनसे जोड़कर आठवें वर्ष ब्राह्मण बालकका, ग्यारहवें वर्ष क्षत्रिय बालकका, और बारहवें वर्ष वैश्य बालकका यज्ञोपवीत करना चाहिये।

'पञ्चविंशतिपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं समभ्यसेत्।
बलवान् शक्तिसम्पन्नः शतायुस्तु भविष्यति॥'

उपनीत ब्राह्मण पचीस वर्षतक पवित्र वातावरणमें रहकर, किसी भी प्रकारका दुर्विचार मनमें न लाते हुए, शरीर, मन, और वचनसे ब्रह्मचर्य पालन तथा गुरुशुश्रूषापूर्वक वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करे और अन्य वर्ण अपने-अपने व्यवसायकी भी शिक्षा ग्रहण करें। पचीस वर्षतक अस्खलित ब्रह्मचर्यके पालनसे—'रेतो धारणाद् वीर्यलाभः'—वीर्य रक्षासे मानव शारीरिक बल और दिव्यशक्तिसे सम्पन्न होता है। उसकी बुद्धि-शक्ति बढ़कर वह शतायु होता है। आज सर्वत्र दीखनेवाली अल्पायुता और तन-मनकी दुर्बलताका एकमात्र प्रमुख कारण ब्रह्मचर्य-विहीनता ही है। आजकी इस शोचनीय स्थितिके इसके सिवा और भी अनेक कारण हैं। जैसे—प्राकृत सहशिक्षा, स्त्रियोंका प्रौढ़ विवाह, नैतिक बंधनों की विच्छृङ्खलता, पवित्र अन्न-पानादिके नियमों एवं आचार-विचारों

अभाव, पवित्र वाङ्मयके अभ्यासका अभाव, आदर्श व्यक्तिके नेतृत्व और सदाचारके प्रोत्साहनका अकाल, नैतिक शिक्षाकी कमी, धर्म-शिक्षाका अभाव, वर्णाश्रमधर्मका ह्रास आदि।

वास्तवमें राष्ट्रका युवक-वर्ग ही धर्म और संस्कृतिका आधारस्तम्भ होता है। सम्प्रति इस वर्गकी दीख रही दयनीय दशापर गंभीर विचार-कर उसपर पूर्ण नियन्त्रण पाना और शरीर एवं मनसे इस वर्गको सुदृढ़ बना सर्वाङ्गीण आदर्श उपस्थित करना राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अत्यावश्यक है। सचमुच आजकी युवक-वर्गकी अवस्था किञ्चित् भी सन्तोष-जनक नहीं। वास्तवमें ब्रह्मचर्याश्रम ही आगेके सम्पूर्ण दिव्य और भव्य जीवन-मन्दिरकी सुदृढ़ नींव होती है। यदि पुरुष पचीस वर्षतक अच्छी तरह ब्रह्मचर्यका पालन करे तो उसकी सभी धातुएँ पुष्ट हो उसकी भावी सन्तति भी स्वस्थ, कुशाग्रबुद्धि, इन्द्रिय और मनपर नियन्त्रण रखनेवाली तथा धार्मिक बन सकती है। उत्कृष्ट भावी पीढ़ीके निर्माणमें गर्भाधानतक पति-पत्नियोंका अस्खलित ब्रह्मचर्य और उसके बाद एक-पत्नीव्रत और पातिव्रत्य ही प्रधान कारण है।

'अग्निकुण्डसमा नारी घृतकुम्भसमो नरः।
संसर्गेण विलीयेत तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥'

भगवान् दत्तात्रेयका कहना है कि स्त्री जलते हुए अग्निकुण्डकी तरह और पुरुष जमे हुए घीके घड़ेकी तरह है। अग्निकुण्डके पास उस जमे घीके घड़ेको रखनेपर उसकी जैसी स्थिति होती है, स्त्रियोंके सहवाससे साधारण पुरुषकी भी वैसी ही स्थिति होती है, अतः उनसे बचे रहना चाहिये। 'सुरां पीत्वा च माद्यति' साधारण मद्यके पीनेपर नशा चढ़ता है, पर—'प्रमदां दृष्ट्वैव माद्यति' स्त्रीरूप मद्यका नशा तो देखनेभरसे चढ़ जाता है।

'तस्माद् दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ।'

इसलिए देखनेके साथ ही विषकी तरह प्रभाव करनेवाला स्त्रियोंका सहवास, पूर्ण आत्मनिष्ठ होनेतक, यथासम्भव बचाना चाहिये। देशके युवक-युवतियों, उनके अभिभावकों और नेताओंको इसपर गम्भीर विचार करना बहुत आवश्यक है। विवशतः उनका सहवास प्राप्त हो ही जाय तो उस समय आर्योंकी यही सलाह है कि उन स्त्रियोंके प्रति मातृ-भावना रखी जाय, घृणित देहदृष्टि त्याग उनमें स्थित परिशुद्ध परमात्म-स्वरूप देखा जाय। आर्योंकी इस सलाहकी उपेक्षा करना दुस्साहस ही सिद्ध होगा। वर्तमान स्थिति देखते हुए विवशतः हमें यह बताना पड़ रहा है। ऋषि-मुनियोंके भेदभावबोधक इन वचनोंको कितना भी आँखोंसे ओझल किया जाय, आज नहीं तो कल लोकहितमें बाधा उपस्थित होकर वे अपनी आवश्यकता मनवाकर ही रहेंगे।

'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्ध त्यजति पण्डितः ।'

आखिर इन रोगियोंको पथ्य न बताया जाय तो ये स्वस्थ भी कैसे हो सकेंगे ?

ध्यान रहे कि स्त्री-पुरुषका भेद बनाये रखना कभी भी वेदका लक्ष्य नहीं। 'न स्त्री न पुमानेषः'—श्रुति गरजकर कहती है कि न तो स्त्री है और न पुरुष ही। 'आत्मैवेदं सर्वम्'—सब कुछ आत्मरूप ही है। फिर उपर्युक्त स्त्री-पुरुष भेदबुद्धि या भेदोपदेश ठीक वैसी ही बात है जैसे रोग रहनेतक रोगीको पथ्य बताना या पथ्य करवाकर उसे नीरोग बनाना। वास्तवमें वेदका अन्तिम ध्येय यही है कि स्त्री-पुरुषके एकत्र रहनेपर भी -'न स्मरन्निदं शरीरम्'—स्त्री-पुरुष देहोंकी भावना न कर प्राणिमात्र आनन्दघन परमात्मस्थितिमें ही मग्न रहें। वेदोंमें सर्वत्र प्रथम एकपत्नीव्रत बता, फिर स्त्री-पुरुष भेद मिटा संन्यास द्वारा आत्मनिष्ठ रहनेका ही उपदेश दिया गया है।

प्राणिमात्रका अन्नदाता गृहस्थ

'चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥'

पचीस वर्षसे पचास वर्षतकका समय जीवनका दूसरा विभाग है। इस विभागमें विधियुक्त विवाहकर गृहस्थाश्रममें रहना चाहिये।

'परदारेष्वसंसर्गो धर्मस्त्रीपरिरक्षणम् ।
अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम् ।
शमो दानं यथा शक्तिर्गार्हस्थ्यो धर्म उच्यते ॥'

अर्थात् परस्त्रीके प्रति मातृभाव रखना, अपनी पत्नीकी सब प्रकारसे रक्षा करना, अहिंसा, सत्य, प्राणिमात्रपर दया, मनोनिग्रह और यथाशक्ति दान-पुण्य करना 'सार्ववर्णिक गृहस्थधर्म' है। व्यवसायके कारण गृहस्थके लिए अन्य किसी प्रकारके तप करनेके अवसर नहीं मिल सकते, अतः 'एतत् खलु वाव तप इत्याहुर्यत् स्वं ददातीति'—गृहस्थके लिए दान ही एकमात्र तप बताया गया है। 'दक्षिणावन्तोऽमृतं भजन्ते'—शास्त्रका वचन है कि जो द्रव्यदान करते हैं उन्हें गुरुकृपासे मोक्ष प्राप्त होता है। अन्नदानकी अत्यन्त महिमा गायी गयी है। सभी दानोंमें अन्नदान श्रेष्ठ है। अन्न ही प्राणिमात्रका जीवन है। और गृहस्थाश्रममें मानवके हाथों जब-तब यही अन्नदान होता रहता है। इसीलिए तो भगवान् मनुने इसे माता और समुद्रकी उपमा दी है। 'अतिथिदेवो भव'—आर्योंके यहाँ अतिथिसेवाका अत्यधिक महत्त्व है।

'ऋषयः पितरो देवाः भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासन्ते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानतः ॥"

ऋषि, पितर, देवता, अतिथि, याचक, किम्बहुना, सभी प्राणी गृहस्थोंसे ही अन्नकी आशा लगाये रहते हैं। अतः विचारशील गृहस्थ यथा-

शक्ति दानधर्म अवश्य करे, यही गृहस्थके लिए सबसे बड़ा तप बतलाया गया है।

'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मुनिः॥'

यों तो भगवान् मनुने चारों वर्णोंके लिए संक्षेपमें अनुष्ठेय अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह—ये पाँच धर्म बताये हैं जो गृहस्थके लिए भी अनिवार्य ही हैं। शरीर, मन और वचनसे दूसरेको पीड़ा न पहुँचाना ही अहिंसा है। यथातथ्य (जैसा हो वैसा ही) कहना और व्यवहार करना ही सत्य है।

'पूर्णं सत्यं परं ब्रह्म न चान्यदिति मे मतिः।
तच्च सत्यं परं प्रोक्तं मुने वेदान्तवादिभिः॥'

आर्योंका कहना है कि सर्वकारण परमात्माके आनन्दघन स्वरूपके सिवा यहाँ और कुछ भी नहीं, ऐसा निश्चयकर इसी तरहकी अखण्ड धारणा, व्यवहार और दृष्टि रखना ही परम सत्य है। शरीर, वचन और मनसे भी परद्रव्यकी इच्छा न करना अस्तेय है। मायाके किसी भी कार्यका शिकार न होना भी अस्तेय है। मृत्तिका, जल आदि बाह्य साधनोंसे शुद्धि करके यह भावना करना कि 'मुझे देहसंग नहीं, मैं नित्य शुद्ध परमात्मा ही हूँ', शौच है। विकार उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंके बीच भी विकारी न होकर दृढ़ रहना ही इन्द्रियनिग्रह है।

'गुरुभक्तो भृत्यपोषी दयावाननसूयकः।
नित्यजापी च होमी च सत्यवादी जितेन्द्रियः॥
स्वदारे यस्य सन्तोषः परदारानिवर्तनम्।
अपवादोऽपि नो यस्य तस्य तीर्थफलं गृहे॥'

जो गुरुभक्त है, जो आश्रितोंका भरण-पोषण करता है, जो दयाशील होता है, जिसे दूसरेकी उन्नतिपर ईर्ष्याभाव नहीं होता, जिसकी दुराशा नष्ट है, अपस्वार्थवश जो दूसरेका द्वेष करना नहीं जानता

जो सदा अपना नियमित जपादि अनुष्ठान करता है और होम-हवनादि चलाता रहता है, जो सत्यवादी और जितेन्द्रिय है, जो एकपत्नीव्रतका पालन करता और सबका मनचाहा रहता है तथा जिसपर किसी प्रकार का अपवाद नहीं लगता वह अपने घरमें ही रहकर समस्त तीर्थयात्राका फल प्राप्त करता है। आर्योंकी मान्यता है कि प्रत्येक गृहस्थ इन्हीं गुणोंसे सम्पन्न रहे।

'अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम्॥'

अधर्मसे दुःख ही पीछे लगता और धर्मसे न चाहनेपर भी सुख पीछा नहीं छोड़ता, यही विचारकर आर्यजन सदैव धर्मपरायण रहते हैं।

ब्राह्मणोंके विशेष धर्म सन्ध्या-वैश्वदेवादि

गृहस्थधर्मोंमें भी विशेषकर ब्राह्मणोंके लिए शास्त्रोंमें पञ्च महायज्ञ बताये हैं जो निम्नलिखित हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ, (२) पितृयज्ञ, (३) देवयज्ञ, (४) भूतयज्ञ और (५) मनुष्ययज्ञ।

'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥'

इन पाँच महायज्ञोंमें वेदपाठ ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ, वैश्वदेवादि देवयज्ञ, काकबलि भूतयज्ञ और अतिथिके लिए अन्नदान मनुष्ययज्ञ है।

'शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥'

शास्त्रोंमें वैश्वदेवके बाद कुत्तों, पतितों, श्वपचों, पापफलभोगी रोगियों, कौओं और कीड़ों-मकोड़ोंके उद्धारार्थ उनके नाम भूमिपर हुत-शेष (होमके बाद बचा) अन्न रखनेकी 'बलिहरण' नामक एक विधि है, जो इसीलिए बतायी है कि प्राणिमात्रका भरण-पोषण हो,

पतितोंका उद्धार हो, रोगादि विपत्तियोंसे ग्रस्त लोगोंका दुःख-कष्ट दूर हो। सचमुच बलिहरणकी यह विधि बतानेवाले और करनेवाले आर्योंका ध्येय कितना उदात्त है! निस्सन्देह प्राणिमात्रके उद्धारक वैदिकधर्मके सच्चे अनुयायी हमारे आर्य लोग ही हैं। उनमें सबके उद्धारकी व्यापक दृष्टि पायी जाती है। यदि यहाँ किसीका सर्वाङ्गपूर्ण जीवन कहा जा सकता तो वह आर्योंका ही है। बलिहरणकी इस विधिमें एक 'श्वपच' शब्द भी आता है जिसका अर्थ आजकी भाषामें 'हरिजन' है। उनके उद्धारके लिए वैश्वदेवका यह प्रसाद उनके नामसे भूमिपर रखनेकी विधि पहलेसे ही चली आ रही है। आर्योंको यह सिखानेके लिए किसीकी जरूरत नहीं। जो भी संसारमें अच्छाई है, सभी उनमें पायी जा सकती है। वे आरंभसे ही हरिजन-बन्धुओंके हितकी चिन्ता रखते आ रहे हैं।

ध्यान रहे कि ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व ब्राह्मणाचारके पालनसे ही सुरक्षित है, अन्यथा वह 'शूद्र' ही कहलाता है।

'संध्यां नोपासते यस्तु ब्राह्मणो हि विशेषतः।
स जीवन्नेव शूद्रः स्यान्मृतः श्वा चैव जायते॥'

जो ब्राह्मण सन्ध्या नहीं करता वह जीते जी शूद्र माना जाता और मरनेपर कुत्ता बनता है। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'—श्रुतिकी आज्ञा है कि प्रतिदिन सन्ध्यावन्दन करें। भगवान् मनु लिखते हैं—

'वैश्वदेवविहीना ये आतिथ्येन बहिष्कृताः।
सर्वे ते नरकं यान्ति काकयोनिं प्रयान्ति ते॥'

जो ब्राह्मण वैश्वदेव नहीं करते और द्वारपर आये अतिथिको भोजन नहीं देते वे नरकयातना भोग कौएकी योनिको प्राप्त होते हैं। 'यदह्ना पापमकार्षम्, तदवलुम्पतु'—सन्ध्याके इस मन्त्रमें यही प्रार्थना की गयी है कि मेरे द्वारा अनजाने कायिक, वाचिक, मानसिक जो पाप हुआ हो

वह नष्ट हो जाय। सारांश, सन्ध्या न करनेवाले ब्राह्मणका दिनभर पाप एकत्र हो उसे यहाँ शूद्राचारसम्पन्न बना डालता और अन्तमें अपनी उस वृत्तिके अनुसार वह कामाचार करनेके लिए कुत्तेकी योनिमें पहुँचाता है।

ध्यान देनेकी बात है कि देवताओंके अनुग्रहसे ही सस्यादि या अन्नकी प्राप्ति होती है। यदि उन्हें कृतज्ञतापूर्वक वैश्वदेवकी आहुति न दी जाय तो कृतघ्नताका दोष सिर चढ़ता है और अन्न पकाकर खाने-तककी धान्यसम्बन्धी पाँच हत्याओंका दोष लगता है। गीताके इन दो श्लोकोंपर ध्यान दें—

'इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥'
'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥'

यज्ञसे आप्यायित या सन्तुष्ट किये गये देवगण मानवोंको अभीष्ट उपभोग्य पदार्थ देते हैं। अतः उनके दिये उन विषयोंको विना उन्हें समर्पित किये जो खाता है वह निश्चय ही चोर माना जाता है। जो यज्ञशेष अन्न खाते हैं वे सभी पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो केवल अपने पेटके लिए पकाते हैं वे अन्न नहीं, पाप ही खाते हैं।

वैश्वदेव न करनेसे निम्नलिखित चार दोष लगते हैं—(१) देवताओंको मानवोंसे मिलनेवाला आहार वन्द हो जाता है। (२) वलि-हरणमें अन्त्यजादि, कौए तथा कृमि-कीटादि पाप-योनियोंको उनके उद्धारार्थ दिया जानेवाला हुतशेष प्रसाद उन्हें नहीं मिल पाता। (३) उनके उद्धारार्थ प्राप्त ब्राह्मणशरीरका सार्थक न करनेसे कर्तव्यलोपका पाप लगता है। और (४) चूँकि ब्राह्मण सवसे दान लेता है, इसलिए उसके द्वारा दी गयी आहुतिसे सभी लोगोंको अनायास सभी देवताओंकी सेवा-का सौभाग्य प्राप्त होता है और उससे पूरे राष्ट्रका कल्याण होता है।

किन्तु यदि वह आहुति न दे तो इस तरह लोगोंका होनेवाला सर्वाङ्गीण कल्याण भी रुक जाता है। अतः ब्राह्मणोंको वैश्वदेव करनेमें प्रमाद न न करना चाहिये।

'सर्वाभ्यो देवताभ्यः स्वाहा, भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, सुवः स्वाहा।'

इन मन्त्रोंपर दृष्टि देनेसे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणकी आहुति सभी देवताओंतक पहुँचती और तीनों लोकोंको मिलती है। श्रुति कहती हैं—'अग्निमुखा वै देवाः'—चूँकि अग्नि द्वारा देवताओंको आहुति मिलती है, इसलिए अग्नि देवताओंका मुख है। सभी मुखोंकी अधिष्ठात्री देवता अग्नि ही है। अग्निमें आहुति डालनेसे वह सभी देवताओंको पहुँचती है, इसका रहस्य भी यही है। सबके उदरमें जठराग्नि विद्यमान है, अग्निमें आहुति देनेसे सभी भूतोंको आन्तरिक तृप्ति होती है। इसी कारण भगवान् मनु कहते हैं कि वैश्वदेव न करनेपर इन सब कर्मोंका लोप होनेके कारण इस पापसे वैश्वदेव न करनेवालेको नरककी प्राप्ति होती है। नरक और कौए-कुत्तोंके जन्मके भयसे ही सही, ब्राह्मण-वर्गका कर्तव्य है कि अब भी वह सन्ध्या-वैश्वदेवादि अनुष्ठानकर अपना और दूसरोंका उद्धार करे। भगवान्से हमारी यही कामना है कि ब्राह्मणोंके इन सन्ध्या, वैश्वदेवादि अनुष्ठानोंसे देवता प्रसन्न हों, खेती-बारी समृद्ध हो और सारा राष्ट्र सुख प्राप्त करे।

सारांश मनुके शब्दोंमें—'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः'—ब्राह्मण ही सबका गुरु होनेके कारण उसके द्वारा किये गये कर्मोंसे अर्थात् सभीकी सेवा प्राप्त हो, सभीका ऐहिक-पारलौकिक कल्याण सिद्ध हो—इसी अभिप्रायसे श्रुतिने ब्राह्मणके लिए वैश्वदेवकी विधि कही है। इस तरह क्या भगवती श्रुति विश्वकी ममतामयी माता सिद्ध नहीं होती? और क्या आर्य भी विश्वके हितचिन्तक सिद्ध नहीं होते? खेद है कि श्रुति और श्रुति-आज्ञाओंका महत्त्व तथा ब्राह्मण और उसके कर्तव्योंका महत्त्व न समझनेके कारण ब्राह्मण-वर्ग दिनपर दिन आश्रयविहीन होता

और गिरता चला जा रहा है। कुल देखा जाय तो आधुनिक समाजकी स्थिति बड़ी ही शोचनीय हो उठी है।

'स्नानं सन्ध्या जपो होमो देवतानां च पूजनम्।
आतिथ्यवैश्वदेवौ च षट्कर्माणि दिने दिने ॥'

स्नान, सन्ध्या, जप, होम, देवपूजा, अतिथियोंको अन्नदान और वैश्वदेव—ये छः ब्राह्मणोंके दैनिक नित्यकर्म हैं।

आर्यसंस्कृति ही विश्वके लिए आदर्श

आर्योंने अनेक कष्ट सहकर बड़े परिश्रमसे अपनी इस सर्वोत्कृष्ट संस्कृतिकी रक्षा की है। इसके सुरक्षित रहनेसे ही न केवल भारतका, वरन् विश्वभरका अबतक कल्याण हो सका और भविष्यमें भी होता रहेगा। इसी आर्यसंस्कृतिके कारण विश्वभर भारतकी कीर्ति फैल सकी। अतएव भारतीय शासनसूत्रके सभी संचालकोंका सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वे इसकी सर्वतोपरि रक्षा करें। ब्रिटिश शासनकालसे इसपर विदेशी संस्कृतिकी थोड़ी-बहुत धूल पड़ गयी है। हम भारतीयोंका कर्त्तव्य है कि उसे अविलम्ब झाड़-पोंछकर साफ कर दें जिससे इस दिव्य-संस्कृतिके प्रकाशसे अखिल विश्व पुनः उज्ज्वल हो उठे। हमें केवल इसकी रक्षाभर करनी चाहिये, किसी तरहके उलट-फेरकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। अतः आज हम अपना प्रधान लक्ष्य और आद्य कर्त्तव्य आर्य-संस्कृतिकी रक्षाको ही बनायें। सुनते हैं, अभी-अभी 'महाभारत' की अपनी प्रस्तावनामें भारतके प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहर-लाल नेहरूने इस आर्य-संस्कृतिके महत्त्वपर बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'एकमात्र भारतीय संस्कृति ही विश्वके लिए आदर्शभूत हो सकती है।'

'स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः।'

ध्यान रहे कि यदि स्त्रियाँ शीलभ्रष्ट हों तो वर्णसंकर होता है।

वंशवृक्षकी वृद्धिके लिए मातृरूप भूमि और पितृरूप बीज दोनों ही उत्कृष्ट होने चाहिये। वास्तवमें उस-उस जातिके बीच ऋतुकालके पूर्व होनेवाला सवर्ण विवाह आर्यसंस्कृतिका प्रकाशमय दीपस्तम्भ और एकपत्नीव्रत तथा पातिव्रत्य उसका देदीप्यमान प्रकाश है। उसकी उज्ज्वलता और भी बढ़कर विश्वभर उसका प्रकाश फैलना चाहिये।

'दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥'

दुराचारी पुरुष न केवल निन्दाका पात्र ही होता, वरन् स्वयं व्याधिग्रस्त हो सदा दुःख भोगता और अल्पायु भी होता है। अधर्मसे तात्कालिक विजय और सुख मिलता-सा प्रतीत होनेपर भी वह विजय थोड़े ही दिनों बाद उसकी दुर्दशा कराती और वह सुख भी असह्य दुःखके रूपमें परिणत हो जाता है। साथ ही वह परलोकमें भी दुःख और नरकका भागी बनता है।

'सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥'

महान् पाण्डित्य आदि कोई भी सुलक्षण न होते हुए भी जो केवल पूर्ण सदाचारी हो और जिसका वेद, स्मृति, देव एवं गुरुके प्रति अचल विश्वास हो तथा जिसमें किसी भी तरहकी असूया न हो तो वह समाजमें सम्मान पाता और सौ वर्षतक नीरोग हो जीवित रहता है। सदाचार, स्वास्थ्य और मनःशान्तिका परस्पर निकटतम सम्बन्ध है।

'यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्।
तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः॥'

यदि स्त्रीको अन्य पुरुषसे गर्भ रह जाय तो उसे उसी तरहका या उससे भी भ्रष्ट बच्चा पैदा होता है। अतः अच्छी सन्तानके लिए स्त्रियोंकी बुरे रास्तोंसे सर्वतोपरि रक्षा करनी पड़ती है। कुमार्गमें प्रवृत्त पुरुष सदैव नैतिक दृष्टिसे त्याज्य ही रहेगा, और फिर उसीके जैसी या उससे

भी निकृष्ट प्रजा पैदा होने लगे तो उस कुटुम्ब, उस समाज, उस देश, किम्बहुना उस जगत्से भी मानवता मिट जायगी।

'क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम्॥'

स्त्री भूमि और पुरुष बीज है तथा इन दोनोंके संयोगसे ही सन्तति-रूपी वृक्ष खड़ा होता है, इसका विचारकर शासकोंका अत्यावश्यक कर्तव्य है कि वे अपनी प्रजाके शुद्ध, चरित्रसम्पन्न होने और स्त्री-पुरुषोंके नैतिक आदर्शयुक्त रहनेकी सतर्कता बरतें। कारण—

'आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥'

आचारसे दीर्घायु प्राप्त होती है, आचारसे मनोवांछित प्रजा पैदा होती है, आचारसे अचल सम्पत्ति प्राप्त होती और आचार ही सभी कुलक्षणोंको नष्ट कर देता है।

'गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥'

चक्रवर्ती मनु महाराज लिखते हैं कि गुरुसे आज्ञा पाकर विधिपूर्वक स्नानादि समावर्तन संस्कारसे सम्पन्न द्विज सुलक्षणा और सवर्णा वधूसे ही विवाह करे। मानवमात्रका कर्तव्य है कि वे मनुकी इस आज्ञाका कभी उल्लंघन न करें। कारण मनुसे ही मानवकी उत्पत्ति हुई है—'मनोर्भवा मानवाः'। ध्यान देनेकी बात है कि 'मानव' और 'मॅन' (MAN) दोनों शब्दोंमें कितना सादृश्य है! इसीसे स्पष्ट है कि मनु की इस आज्ञाका पालन करना अखिल मानवोंका कर्तव्य है। आर्योंकी वर्णाश्रम और कौटुम्बिक आदर्श-पद्धति अखिल विश्वके लिए शोभास्पद है। जब विश्व मानव-जीवनके अन्तिम ध्येयके साधनार्थ प्रवृत्त होगा तो उसे विवशतः इसी आर्यसंस्कृतिकी ओर मुड़ना पड़ेगा। विश्व-कल्याण और आत्मोद्धारके लिए भी इस आर्य-संस्कृतिकी रक्षा करना

भारतीयोंका पवित्र कर्तव्य है। असवर्ण-विवाह, विधर्म-विवाह और विधवा-विवाहसे तो पितृकार्य (पितरोंका श्राद्ध आदि), देवकार्य, कुलधर्म, कुलाचार आदिसे सम्पन्न आर्य-संस्कृति ही लुप्त हो जायगी।

ध्यान रहे कि सांसारिक सुखोंका सम्बन्ध केवल इसी देहतक सीमित है। इस जीवन और इस सुखके सिवा मानवके लिए सच्ची प्राप्तव्य वस्तु दिव्य जीवन और परमात्माका अमित सुख है। और इसीमें मानव-शरीरकी सार्थकता है।

पुत्र-धर्मका पालन

'कृतेषु प्रतिकर्त्तव्यमेष धर्मः सनातनः।'

कृतज्ञता और प्रत्युपकार मानवका सनातन धर्म है। मृत्युलोकमें, मरनेके बाद मानवकी छाया ही रह जाती और उसी छायारूप पितरोंकी श्राद्ध-तर्पणसे तृप्ति होती है। श्रुति कहती है कि माता-पिताके उपकारका प्रत्युपकार यही है कि उनके जीते-जी उनकी सेवा करें और उनके प्रति कृतज्ञता दिखानेके लिए मरनेके बाद भी श्राद्ध-तर्पणसे उन्हें सन्तुष्ट रखें। प्रजा उत्पन्नकर पितृ-ऋणसे मुक्त हुए माता-पिता पितरोंके कृपापात्र बन दिव्य पितृलोकमें पहुँच जाते हैं जहाँ अर्यमा आदि पितरोंके अभिमानी देव निवास करते हैं। वे पुत्रों द्वारा किये श्राद्ध आदि पितरोंके समाराधनसे सन्तुष्ट होते और गृहस्थोंको सन्तति, सम्पत्ति, आयु, आरोग्य आदि प्रदान करते हैं। श्राद्ध करनेवाले जानते ही होंगे कि उसमें अपने पितरोंके नाम पिण्डदान होता है। वर्षमें एक दिन माता-पिताको श्रद्धापूर्वक अन्नसे सन्तुष्ट करनेकी विधि ही 'श्राद्ध' है। चूंकि मानवका एक वर्ष पितरोंका एक दिन होता है, इसलिए वर्षमें एक दिन ब्राह्मण द्वारा वैदिक पद्धतिसे अन्नदानकर पितरोंको तृप्त किया जाय तो भी उन्हें नित्य भोजन दे तृप्त करनेका पुण्य मिलता है। जिस तरह यहाँ हुंडी, पार्सल, मनिआर्डर आदि एक देशसे दूसरे देशके व्यक्तिके पास पहुँचते

की व्यवस्था है उसी तरह ईश सृष्टिकी व्यवस्थाके अनुसार पितरोंको भी दिया हुआ अन्न वे जहाँ हों और जैसे भी हों वैसा ही वहाँ पहुँच जाता है। वेदका आदेश है—'देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।' देवता एवं पितरोंके कार्य विना भूले सम्पन्न किये जायँ।

असवर्ण-विवाह, पुनर्विवाह या विधर्म-विवाहसे उत्पन्न विजातीय, विधर्मी और भिन्न सन्ततिका पहलेकी जातिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। और ऐसी सन्तति उस-उस कुलकी न होनेसे उस कुलका कुलाचार, उस कुलमें विशेष रूपसे होनेवाले देवाराधन और पितृकार्य सभी कुछ नष्ट हो जाता है। आगे इसका समाजपर ऐहिक और पारलौकिक दृष्टिसे कितना भयानक परिणाम होगा, यह कहा नहीं जा सकता। इस सम्बन्धमें गीताके इन श्लोकोंपर विचार करना अत्यावश्यक है—

'कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥
अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥'

तात्पर्य यह कि कुल नष्ट होनेसे परम्परासे चले आ रहे कुलधर्मोंका नाश होता है, कुलधर्मोंके नाशसे कुलमें अधर्म मच जाता और अधर्म मचनेसे स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, स्त्रियोंके भ्रष्ट होनेसे वर्णसंकर होता है, इस वर्णसंकरसे कुलका नाश होता है। कुलनाशसे कुलको नष्ट

करनेवाले और कुलके सभी लोग नरकमें गिरते हैं। जिस तरह परदेश में रहनेवालोंको घरसे मनिआर्डर न आनेपर होटलसे अपना बोरिया-बिस्तर उठाना पड़ता है उसी तरह पितर भी स्वर्गमें नहीं रह पाते और उनका भी अधःपतन हो जाता है। कुलनाश करनेवालोंके वर्णसंकर-कारक दोषोंसे जातिधर्म, कुलधर्म नष्ट होते हैं। कुलधर्म और कुलाचारोंका उच्छेद करनेवालोंको बहुत दिनोंतक नरकवास भोगना पड़ता है, दूसरे शब्दोंमें इसे आजन्म कालेपानीकी सजा ही समझिये।

प्रथम पुत्रसे ही पितृ-ऋणमुक्ति

'यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान् विदुः॥'

भगवान् मनु लिखते हैं कि मानव जिसके द्वारा पितृ-ऋणसे मुक्त हो स्वर्ग प्राप्त करता है, वह पहला पुत्र ही 'धर्मपुत्र' कहलाता है। 'पुत्र' शब्दकी यह व्युत्पत्ति भी कि 'पुन्नाम नरकात् त्रायत इति पुत्रः' (पुं नामक नरकसे पिताकी जो रक्षा करे वह पुत्र है), पहले पुत्रसे ही सार्थक होती है।

'ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः।
पितॄणामानृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति॥'

प्रथम पुत्रके जन्मसे ही गृहस्थ पुत्रवान् होता है। 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति'—श्रुति भी कहती है कि मानवको पुत्रसे ही इहलोक और परलोकमें जय और कृतार्थता प्राप्त होती है। 'प्रजया पितृभ्यः' इस श्रुतिसे स्पष्ट है कि पुत्रसे ही मानव पितृ-ऋणसे मुक्त होता है और उसीसे उसकी मरणोत्तर क्रियाकी समस्या भी भलीभाँति हल हो जाती है।

उत्तरक्रियाका अधिकारी होनेके कारण ही पुत्र पितृ-धनका भी अधिकारी होता है। परगोत्रमें दी जानेके कारण कन्याका पिताके गोत्रसे

उतना संबंध नहीं रह जाता। वह अपने पतिकी अर्धांङ्गिनी बनकर रहती और 'श्वशुर-गृहकी सम्राज्ञी' बन जाती है। 'तस्मात् स्त्रियः ......अदायादीः'—इसीलिए श्रुति कहती है कि स्त्रियाँ दाय-भाग-की अधिकारिणी नहीं हैं। यही कारण है कि आर्योंमें स्त्रियोंके दाय-भागकी प्रथा नहीं है। माता-पिताकी रक्षा और औध्र्वदेहिक क्रिया, कुल-धर्म, कुलाचार, भाई-बहनोंके कार्य—सारा भार पुत्रके ही सिरपर होनेसे पितृ-धनपर उसका अधिकार उचित ही है। कन्याको दाय-भाग देनेपर उसके द्वारा उपर्युक्त कार्य संभव नहीं। कन्याओंपर न तो इन बातोंका उत्तरदायित्व है और न इसका अधिकार ही। यदि स्त्रीके घरकी (ससुरालकी) स्थिति अत्यन्त दयनीय और नैहर संपन्न हो तो सब दृष्टियोंसे उनकी शक्ति-सामर्थ्यका विचारकर सरकार उन्हें पिताके धनमें से कुछ दिलाये या भाई ही उसे कुछ प्रेमसे दे दे तो वह अनुचित न होगा। परिस्थिति-विशेषमें ऐसा होना किसी भी विचारशीलको उचित ही प्रतीत होगा।

इस एक पुत्रके बाद उत्पन्न सभी सन्तानें 'कामज' ही कहलाती हैं। कामवासनासे उत्पन्न होनेके कारण ही वे 'कामज' हैं। इस 'कामज' शब्दसे आर्योंका यही अभिप्राय विदित होता है कि एक पुत्र होनेके बाद स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य-पालनकर मोक्षका मार्ग पकड़ें।

श्राद्धके अन्तमें सभी गृहस्थ अपने पितरोंसे यह वैदिक-प्रार्थना करते हैं—

'दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव नः।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहुदेयं नोऽस्त्विति॥'

हमारे कुलमें दानशीलोंकी वृद्धि, अध्ययन-अध्यापनकी वृद्धि, योगा-नुष्ठानादि वैदिकधर्मोंकी वृद्धि, वैदिक-धर्म-श्रद्धाकी वृद्धि, वेदार्थ परिज्ञानकी वृद्धि, पुत्र-पौत्रादिकी वृद्धि, शुद्ध श्रद्धा-भक्तिकी वृद्धि तथा पितरों-अतिथियोंकी सेवा, धर्माचरण एवं असहायोंकी सहायताके लिए

धन-धान्यकी वृद्धि और समृद्धि हो। राष्ट्रके नेता एवं प्रजाजनोंका कर्तव्य है कि इस प्रार्थनापर ध्यान देते हुए विचार करें कि हमारी आर्य-संस्कृतिका स्वरूप क्या था, क्या है और यदि यह सुरक्षित न रहे तो आगे राष्ट्रकी क्या स्थिति होगी ? स्पष्ट है कि श्रुतिने इस श्लोक द्वारा इन माँगोंकी पूर्तिके लिए ही इस तरह पितरोंकी उपासनाका क्रम बैठा दिया है। कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ भगवान्से हमारी यही सविनय प्रार्थना है कि कितना भी कोई कुछ करे, यह आर्य-संस्कृति कभी लुप्त न हो। जो संस्कृति विधर्मी राज्यमें भी नष्ट न होकर दृढ़ बनी रही वह आज स्वराज्य मिलनेके बाद उस धर्मके अनुयायियों द्वारा ही नष्ट कैसे होगी ?

दाम्पत्यधर्मका आदर्श

आर्योंकी विवाह-पद्धति अखिल विश्वमें आजके मानवोंके दाम्पत्य-सुखका एक उन्नत आदर्श है। यदि पातिव्रत्य और एकपत्नीव्रत न हो तो उस दाम्पत्य-जीवनमें सुख-शान्ति संभव नहीं, सदैव हृद्रोग (हृदयकी जलन) लगा ही रहता है। आखिर धोखाधड़ीका ऊपरी प्रेम किसे सुख-शान्ति दे सकता है ? पति-पत्नीमें परस्पर अव्यभिचरित प्रेमके लिए आवश्यक है कि उसी तरह अव्यभिचरित प्रेमसे परस्पर व्यवहार किया जाय।

'सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥'

जिस कुलमें सती और पति परस्पर सन्तुष्ट रहते हैं उस कुलका सब तरहसे कल्याण होता है। उस कुलमें मूर्तिमान् सुख-शान्ति निवास करती है। स्त्रीका एक नाम 'वामा' भी बताया गया है। 'अर्धो वा एष आत्मनो स पत्नी'—पुरुषका वाम-भाग ही पत्नी है। ब्रह्मदेवके वाम और दक्षिण भागोंसे क्रमशः 'मनु' और 'शतरूपा' नामक आदिम

स्त्री-पुरुषोंका निर्माण हुआ है। इसीलिए श्रुतिका कथन है कि दाम्पत्य-जीवनमें स्त्री-पुरुष एक देहके वाम-दक्षिण भागोंकी तरह परस्पर आश्रित रहें।

'अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥'

सती और पतिका प्रेम आमरण अव्यभिचरित रहे, यही पति-पत्नीका एकमात्र मुख्य धर्म संक्षेपमें बताया गया है। भारतके मुख्यमन्त्री पण्डित नेहरूने अपनी साध्वी-शिरोमणि धर्मपत्नी श्रीमती कमला नेहरूकी मृत्युके बाद भी उनकी स्मृतिमें दूसरा विवाह न कर महाराज मनु द्वारा कथित इसी दाम्पत्यधर्मका आदर्श पालन किया है। पति-पत्नीके असीम प्रेमका यह एक उज्ज्वलतम उदाहरण है। भला किस पतिका अपनी अनन्या अर्धाङ्गिनीपर प्रेम न रहेगा?

'सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या प्रजावती॥'

सदैव गृह-कृत्यमें दक्ष रहकर पतिप्राणा, पतिव्रता और पुत्रवती स्त्री ही सच्ची 'भार्या' है।

इसी तरह स्त्रियोंको भी पतिके मरनेके बाद ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिये। आर्योंका कहना है कि पतिके निधनसे सतीका प्रवृत्तिमार्ग ही नष्ट हो जानेके बाद आगे उन्हें निवृत्तिमार्गका ही अवलम्बन करना चाहिये।

'मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥'

भगवान् मनु कहते हैं कि पतिके निधनके बाद जो साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्यसे रहती है, पुत्रवती न होनेपर भी उसे बाल-ब्रह्मचारियों या संन्यासियोंको मिलनेवाले ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। केशवपन्त, तप

आदि विधवाधर्मोंको देखनेपर किसे यह ध्यानमें न आयेगा कि यह स्त्रियोंके लिए एक संन्यास ही है।

'विधवा यतिमार्गेण कुमारी वा विशेषतः।'
'ताम्बूलाभ्यञ्जनं चैव कांस्यपात्रे च भोजनम्।
यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्जयेत्॥'

विधवा और विवाह न कर ब्रह्मचर्यसे रहनेवाली कुमारी दोनों ही 'यतिमार्ग' से संन्यासधर्मका अवलम्बन करें। पान खाना, तेल-फुलेल लगाकर गरम पानीसे नहाना, कांसेकी थालीमें भोजन करना यति, ब्रह्मचारी और विधवाओंके लिए निषिद्ध है। इन वचनोंके आधारपर ही विधवाओंको भी संन्यासियोंकी श्रेणीमें लिया गया है।

'पतिव्रता निराहारा शोष्यते प्रोषिते पतौ।
मृतभर्तारमादाय ब्राह्मणी वह्निमाविशेत्।
जीवन्ती चेत्त्यक्तकेशा तपसा शोधयेद्वपुः॥'

पतिके निधनके बाद पत्नी सहगमन करे (सती हो जाय) या बाल मुड़ाकर, निराहार किंवा एक बार भोजनकर विरक्त अन्तःकरणसे जप, ध्यान, आत्मविचार, आत्मानुसन्धान करती तपस्यासे शरीरको सार्थक करे।

ध्यान रहे कि ब्राह्मणोंमें असवर्ण-विवाह और पुनर्विवाह निषिद्ध हैं। निषिद्धका आचरण नरकका कारण होता है। विषय-व्यामोह नष्टकर इस जीवनमें ही निर्विषय आत्म-सुखका साक्षात्कार कर लेना ही मानव-जीवनका मुख्य ध्येय है।

'याचि जन्मीं येणेंचि काळें। संसारीं होईजे निराळें।
मोक्ष पाविजे निश्चळें। स्वरूपाकारें॥'

श्रीसमर्थ कहते हैं कि इसी जीवन और इसी समय संसारसे अलग हो जायँ और निश्चल भावसे मोक्ष प्राप्तकर स्व-स्वरूपमें स्थित हो जायँ। श्रीगोस्वामीजी भी कहते हैं—

'एहि तनु कर फल विषय न भाई। स्वर्गहुँ स्वल्प अन्त दुखदायी ।।'

सारांश निर्विषय आत्म-सुखके साक्षात्कारसे अपना और दूसरोंका जीवन किस तरह सार्थक हो, इसका विचारकर व्यवहार करना ही मानवता है। मोक्ष-धर्मकी निर्विषय मनःस्थितिके उपदेश द्वारा समाजका हृदय-परिवर्तन करना, नीति और न्यायकी वृद्धि करना ही सच्चा समाज-सुधार है।

'यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते।
अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥'

श्रुति कहती है कि यतः मनकी निर्विषयतासे ही मोक्ष प्राप्त होता है, अतः मोक्षकी इच्छा रखनेवालेको चाहिये कि वह सदैव मनको निर्विषय बनाता जाय। जिस समाजमें मनकी यह निर्विषयक स्थिति निखर उठती है उस समाजमें हत्या, डाका, उन्माद, व्यभिचार, छल-छद्म, अन्याय और अनीतिका नामतक सुनाई नहीं देता। सच्चे अर्थमें वही सुधरा समाज कहा जायगा, यह आर्योंका सुनिश्चित मत है।

पीछे कहा जा चुका है कि वैदिकधर्ममें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार ही वर्ण हैं।

'मातापित्रोः परं तीर्थं गङ्गा गावो विशेषतः।
ब्राह्मणः परमं तीर्थं न भूतो न भविष्यति ॥'

आर्य लोग माता, पिता, गंगा, गाय और ब्राह्मणोंके प्रति परम-पावन तीर्थकी भावना रखते थे।

'आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गांश्च सर्वांश्चैतान् तपस्विनः ॥'

भगवान् मनुके शब्दोंमें आर्यधर्मका उपदेश है कि वेदोपदेश देनेवाले आचार्य, धर्मबोधक, पिता, माता, सद्गुरु, ब्राह्मण, गाय, तपस्वी आदिको मन, वचन, शरीरसे कभी भी पीडा न दें, दुःखी न करें।

'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥'

कारण आचार्य साक्षात् परमात्माका विग्रह है, पिता साक्षात् हिरण्यगर्भकी मूर्ति है, माता साक्षात् भूदेवी है और भाई साक्षात् अपना ही स्वरूप है।

'आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥'

मानव कितने ही कष्टमें क्यों न हो, भूलकर भी अपने आचार्य, माता, पिता, भाइयोंका कभी अपमान न करे। ब्राह्मणके लिए यह विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है।

'तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥'

भगवान् मनु कहते हैं कि मानवका कर्तव्य है कि वह सदा माता, पिता और आचार्यका प्रेम सम्पादन करे, कारण इनके तृप्त या प्रसन्न होनेपर उसके लिए यहाँ सारी तपस्याएँ पूरी हो जाती हैं। 'तैत्तिरीय' श्रुतिमें जो यह कहा गया कि 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।' (माता, पिता और आचार्य देवताकी तरह उपास्य हैं।) उसका यही तात्पर्य है।

'गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः ।'

आर्य माता और पितासे भी बढ़कर मोक्ष देनेवाले सद्गुरुको अधिक महत्त्व देते हैं। श्रुति कहती है—'यथा देवे तथा गुरौ'—परमात्मा और गुरुके बीच कोई भेद न माने। 'मुण्डकोपनिषद्' में कहा है कि—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्'—उस सच्चिदानन्द आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करनेके उद्देश्यसे मुमुक्षु ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुकी शरण जाय। 'कठोपनिषद्' उद्बोधन करती है कि—

'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।'

विषयमोहके बिस्तरपरसे उठो, अज्ञानरूपी नींदसे जागो और श्रेष्ठ आत्मनिष्ठकी शरण जा अतिगूढ परमात्मस्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लो।

यह आर्यधर्म तत्त्वज्ञानकी नींवपर ही खड़ा है। निर्विषय आत्मसुखकी ओर ही उसका सारा झुकाव है। आर्यधर्म वधू-वरके प्रति जगत्के कारण प्रकृति और पुरुषकी दृष्टि रखता है। कन्यादानके समय कहना पड़ता है—'विष्णुरूपिणे वराय तुभ्यमहं सम्प्रददे।' 'अष्टवर्षा भवेत्कन्या पुत्रवत्पालिता मया।'—अर्थात् पुत्रकी तरह पाल-पोसकर बड़ी की हुई आठ वर्षकी अपनी इस कन्याको विष्णुस्वरूप तुम्हें समर्पित कर रहा हूँ। सतीस्वरूप प्रकृतिका पतिरूप पुरुषके संयोगसे सृष्टिकार्यमें लग जाना ही गृहस्थाश्रम है। श्रुति कहती है—

'स आत्मानमेव द्विधाऽपातयत्,
ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।'

जगत्के आदिदेव ब्रह्माने सर्वप्रथम अपने शरीरको दो रूपोंमें विभक्त किया। तबसे उस एक शरीरके ही पति-पत्नीरूप दो भाग हुए। आदिम दम्पतीरूप मनु-शतरूपा ब्रह्मदेवके वाम और दक्षिण भागोंसे उत्पन्न होनेके कारण ये पति-पत्नी एक ही देहके वाम-दक्षिण भाग हैं।

'अदुष्टाऽपतितां भार्यां यौवने यः परित्यजेत्।
स जीवनान्ते स्त्रीत्वं च वन्ध्यात्वं च समाप्नुयात्॥'

जो पुरुष दोषरहित, पापरहित साध्वी पत्नीको उसके यौवनमें ही त्याग देता है वह मरनेके बाद स्त्री-जन्म पाकर वन्ध्या होता है;

'दरिद्रं व्याधितं चैव भर्तारं याऽवमन्यते।
शुनी गृध्री च मकरी जायते सा पुनः पुनः॥'

इसी तरह जो स्त्री दरिद्र, व्याधिग्रस्त पतिका अपकार करती है, उसे

कठोर वचन बोलती है वह मरनेके बाद बार-बार कुतिया, गीधिन या मगरिन बनती है। सती और पति एक देहकी तरह बर्ताव करें। दोनोंमें ही एक 'मैं' भासता है, एक 'मैं' के भानसे ही पति-पत्नीके शरीर धृत हैं, इसलिए परस्पर एक-दूसरेके प्रति आत्मीयताका भाव रहना चाहिये। 'विश्वमें सती-पतिकी भिन्न-भिन्न जोड़ियोंके रूपमें परस्पर अनुरक्त प्रकृति-पुरुष ही स्थित हैं' यह भावना पैदा करनेके लिए ही आर्यधर्मने सती-पतियोंके बीच परस्पर आश्रयताका भाव बताया है।

जिस तरह एक शरीरके वाम-दक्षिणभाग दूसरे शरीरके वाम-दक्षिणभाग कभी हो ही नहीं सकते उसी तरह विधियुक्त विवाह-पद्धतिका अनुसरण करनेवाले सती-पतियोंको भी परस्पर अभिन्न रहना चाहिये, यह श्रुति और स्मृतियोंका कहना है। सती और पतिके बीच एकका शरीर छूटनेपर प्रवृत्तिका अंग ही नष्ट हुआ मान निष्प्रपञ्च अपने अद्वितीय परमात्मरूपकी भावनासे जीवन सार्थककर मुक्त हो जाना चाहिये, यह श्रुतिका हितोपदेश है। प्रवृत्ति, निवृत्ति क्रमसे संसार और मोक्षसाधक दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। निवृत्ति-मार्गसे मोक्ष प्राप्त कर लेना ही नर-शरीरकी सफलता है। किसी भी कारण जिसके लिए निवृत्ति-मार्गसे जाना संभव न हो उसके लिए निवृत्ति-साधक प्रवृत्ति-मार्ग स्वीकार करनेको कहा गया है। ध्यान रहे कि परमात्माके अद्वितीय स्वरूपमें यह अखिल प्रपञ्च केवल मिथ्या-कल्पित, कल्पनाका एक आभास ही है। इस मिथ्याभासके संस्कारोंको मिटा डालना ही महत्त्व-का कार्य है। अद्वितीय परमात्माके सच्चिदानन्द स्वरूपका साक्षात्कार करनेमें ही नर-शरीरकी सार्थकता है।

२ ववाह पशुधर्म

'व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥'

व्यभिचार अत्यन्त निंद्य होनेके कारण व्यभिचारी स्त्री शरीर रहने

तक निन्दाकी पात्र होती और शरीर छूटनेके बाद नरक-दुख भोग सियार, कुत्ते आदिकी नीच योनियोंको प्राप्त होती है, और उसके बाद जब उसे नर-शरीर प्राप्त होता है तो उस समय भी वह अनेक कठिनतम व्याधियोंसे पीड़ित रहती है। उसे असह्य दुःख सहना पड़ता है। स्त्री हो या पुरुष, व्यभिचारकर्म करनेपर वह तीन सौ वर्षतक पिशाच बनकर, और यदि तापस हो तो हजार वर्षतक ब्रह्मराक्षस बनकर, श्वानादि नीच योनियोंको प्राप्त होता और अन्तमें उसे पञ्चम जातियोंमें व्याधिग्रस्त हो जन्म लेना पड़ता है।

'परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन् महीपतिः।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत्॥'

महाराज मनुका स्पष्ट आदेश है कि सदैव अपने किये कुकर्मकी याद बनी रहने और दूसरोंके भी सजग हो जानेके उद्देश्यसे व्यभिचार करनेवाले व्यक्तिकी नाक और कान काट उसे देशसे निकाल बाहर करना चाहिये। कारण—

'तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः।
येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते॥'

व्यभिचारकर्मसे ही वर्णसंकर होता है, यह व्यभिचार ही सभीके मूलधर्मका नाश करता है, उससे वे स्त्री-पुरुष, उसकी सन्तति और उसके संसर्गके अन्य लोग भी पतित हो जाते हैं—सारा समाज और देश ही बिगड़ जाता है। व्यभिचारीके लिए मृत्युदण्ड तककी सजा बतायी गयी है। इसीसे स्पष्ट है कि पारमार्थिक संस्कारोंकी सुरक्षा और वृद्धि तथा प्रजाकी उन्नतिके लिए आर्य कितने सजग रहे। अपनी आर्य-संस्कृतिको बिगड़नेसे बचानेके लिए आर्य लोग पहले ही से कितनी सतर्कता रखते थे। 'हीनं दूषयतीति हिन्दुः'—'हिन्दू' शब्दका अर्थ है कि जो हीनवृत्तिको दूषण मानता है। इन आर्योंको 'हिन्दू' शब्दसे सम्बुद्ध

करनेकी भी चाल है। इस दृष्टिसे भी देखा जाय तो यह 'हिन्दू' शब्द भी आर्योंके शीलका ही परिचायक है।

'सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥'

पितृ-धनका विभाग, कन्यादान और वचन—तीनों ही आर्योंके यहाँ एक बार ही दिये जाते हैं। महाराज मनु लिखते हैं—

'अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥'

पुनर्विवाह पशुधर्म है, आर्योंने इस पशुधर्मकी निन्दा की है। वेन राजाके शासनके पहलेतक आर्योंने इस पुनर्विवाहका नामतक नहीं सुना था। पुनर्विवाहका यह पशुधर्म नास्तिक वेन राजाने अपने अधर्म-राज्यमें मनुष्योंके बीच भी चला दिया। 'रामराज्य' के नामसे ख्यात नव चेतनावाले इस स्वराज्यमें अधर्मी रावणकी तरह वेनकी राज्यपद्धति कभी स्वीकृत न होनी चाहिये। उत्तरदायी रामराज्यकी शासनपद्धतिमें महाराज रामका आचरण सामने रखकर व्यवहार किया जाय तो वही पर्याप्त है। तब यह राज्य चलाना अतिसुलभ हो, वह विश्वके लिए ही आदर्श सिद्ध होगा। समस्त विश्वको भव-सागरसे पार उतारनेके लिए चल पड़ी यह रामराज्य-रूपी विशाल नौका, 'रामवद्वर्तितव्यं स धर्मः, रावणवद्वर्तितव्यं सोऽधर्मः' (रामकी तरह चलना धर्म और रावणकी तरह चलना अधर्म है) 'बोध-वाक्य'—रूपी ध्रुवतारेकी ओर दृष्टि रखकर खेयी जाय तो उससे कभी दिग्भ्रम (दिशाकी भूल) नहीं हो सकता।

'कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च॥'

महाराज मनु कहते हैं कि विधर्मी, विधवा या असवर्णोंके साथ निषिद्ध विवाह करने, जातकर्मादि संस्कारोंका लोप होने, वेदाध्ययन

न करने और ब्राह्मणोंका सम्मान न करनेसे प्रसिद्ध कुल भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

'ब्राह्मणो ह वै जायमानस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते।
यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन च ऋषिभ्यः ॥'

श्रुति कहती है कि ब्राह्मण जन्मसे ही देव, पितर और ऋषि—इन तीनोंके ऋणसे ऋणी रहता है। वह यज्ञ-यागादि द्वारा देवऋणसे, प्रजोत्पादन द्वारा पितृऋणसे और अध्ययन द्वारा ऋषिऋणसे मुक्त होता है। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणके लिए गृहस्थाश्रम विषयानुभवके लिए न होकर पितृऋणसे मुक्त होनेके लिए, सुपुत्र-प्राप्तिके लिए देव, पितृ, ऋषि और अतिथियोंकी सेवा तथा विश्व-कल्याणके लिए ही है। आर्योंने यथेच्छ विषयोंका सेवन तो सभीके लिए निषिद्ध बताया है।

'ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥'

आर्योंका कहना है कि अपनी स्त्रीके ऋतुकालमें भी पहले चार दिन छोड़ एवं शेष १२ दिनोंमें भी ग्यारहवीं और तेरहवीं रात, अमावस, पूर्णिमा, एकादशी, शिवरात्रि (१४ शी) आदि पर्व-तिथियाँ तथा दुर्दिन (मेघच्छन्न दिन) त्याग यदि कोई दिन बच रहे तो उस शुभ दिन पायस (खीर) आदि सात्विक आहारकर पवित्र हृदयसे स्त्रीके पास जाय। सोचनेकी बात है कि जहाँ आर्योंने इस बारेमें इतना प्रतिबन्ध, इतना नियन्त्रण रखा है वहाँ वे विधवा-विवाहकी आज्ञा कैसे दे सकते हैं?

विषयसुख घनीभूत दुःख ही

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥'

विषयोंकी लालसा विषयोंके भोगोंसे शान्त हुई—यह आजतक कहीं भी नहीं देखा गया। संसारका अनुभव तो यही है कि आगमें घी डालनेकी तरह भोगोंसे भोगवासना दिनपर दिन बढ़ती ही जाती है। जैसे खारे पानीसे प्यास न मिटकर बढ़ती ही है वैसे ही विषयभोगसे भी विषयवासना शान्त न होकर उसका दाह और भी बढ़ता है।

'पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा यत्तेष्वेव हि जायते ॥'

'वृद्ध होनेतक विषयोंका भोग करनेपर भी तृप्ति न होकर—पुनः अपने पुत्रसे यौवन लेकर हजार वर्ष विषयानुभव करनेपर भी—भोगासक्ति थोड़ी भी कम नहीं होती, वरन् बढ़ती ही जाती है, विषय त्यागनेके लिए मन तैयार ही नहीं होता और न उससे सन्तोष ही होता है।'—महाराज ययातिका यह अनुभव और श्रुतिके उपर्युक्त कथनमें साफ-साफ मेल बैठ जाता है। चूँकि विषयोंके अनुभवसे कभी सुख और तृप्ति नहीं होती, इसलिए उनका त्याग ही सुखकर और तृप्तिकर है। जिस तरह खाज खुजलानेपर बढ़कर जलन ही बढ़ाती है उसी तरह विषय-भोगोंसे आसक्ति और भी बढ़ती तथा आगे-आगे उसका दाह असह्य हो उठता है।

'पृथिव्यां यद् व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥'

भूमण्डलपर विद्यमान समस्त धन-धान्य, सम्पत्ति, पशु-पक्षी, स्त्रियाँ, सेवक या अन्य भी सभी सुख-साधनोंको एकत्रकर तृप्तिके लिए

किसी एक व्यक्तिको दिया जाय तो वह संग्रह एककी तृप्तिके लिए अपर्याप्त ही सिद्ध होगा। वास्तवमें ये सन्तोष और शान्तिके साधन हैं ही नहीं। भोगसुखकी आशासे आजतक कभी कोई पार नहीं पा सका। यही सोच-विचारकर, मनको जीतकर विषयोंको त्यागनेसे ही आजतक अनेकने सुख-शान्ति पायी।

'प्रापणात् सर्वभोगानां परित्यागो विशिष्यते।'

भगवान् मनु कहते हैं कि अखिल विषयोंके भोगोंकी अपेक्षा उनका त्याग ही मनःशान्ति देनेवाला है। 'विवेकिनां सर्वं दुखमेव'—विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें यह विषयसुख घनीभूत दुःख ही प्रतीत होता है। इन क्षणभंगुर विषय-सुखोंमें शाश्वत सुख नाममात्रके लिए नहीं है। मनकी भ्रान्त वासनाओंसे अनुभव किया जानेवाला जितना भी निन्द्य विषय-सुख है, साराका सारा केवल घनीभूत दुःख ही है। इसीलिए श्रुति-माता सभीको उपदेश देती है कि किसी भी इन्द्रियभोगसे न मिलने-वाला, देह, मन आदिकी अपेक्षा न रखनेवाला आत्मसुख प्राप्तकर जीवन कृतार्थ करें।

'बलेन परराष्ट्राणि गृह्णंश्छूरस्तु नोच्यते।
जितो येनेन्द्रियग्रामः स शूर इति कथ्यते॥
इन्द्रियाणां जये शूरो धर्मं चरति पण्डितः।
हितप्रियोक्तिभिर्वक्ता दाता सम्मानदानतः॥'

ध्यान रहे कि अपने बाहुबलसे शत्रु-राष्ट्रोंको पैरोंतले रौंदने-वाला संसारमें भले ही शूर-वीर प्रसिद्ध हो, पर आर्य उसे कभी भी शूर-वीर कहनेके लिए तैयार नहीं। जो अपने उद्दण्ड इन्द्रियसमुदायपर विजय पाता है वही सच्चा शूर है, यही आर्योंके यहाँ शूरकी व्याख्या है। जो सभी इन्द्रियोंको जीतता है, बहकती-भागती इन्द्रियोंकी वृत्तियों-को थपकियाँ लगा जो पकड़े रखता है, जो मनको जीतता और आत्म-

सुखमें स्थिर रहता है, वही सच्चा शूर-वीर है; जो धर्माचरण करता है वही सच्चा पण्डित है; जो मृदु मधुर और हितकर वचन बोलता है वही सच्चा वक्ता है और जो सम्मानपूर्वक दान देता वही सच्चा दाता है—यह आर्योंका सुनिश्चित मत है।

दुष्ट संग जनि देहु विधाता

'पदार्थीं जडे वासना पूवपाप।'—श्रीसमर्थ कहते हैं कि पूर्व जन्मके पापोंसे ही विषयोंके प्रति वासना होती है, इन्द्रिय और मनको न जीत सकनेवाला सचमुच पापी है। 'मुखावलोकनें दोषचि लागे'—उसका मुँह देखने, उसका साथ करनेपर दोष ही लगता है। इसीलिए आर्यजन उसकी हवासे बचते हैं। 'संसर्गतो दोषगुणा भवन्ति'—सद्गुणसम्पत्ति और दुर्गुणशीलताका कारण सज्जन और दुर्जनोंकी संगति ही है। 'सतां सङ्गो हि भेषजम्'—सत्संग ही भवरोगका रामबाण औषध है। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

'तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख, धरिय तुला इक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत-संग॥'

यही सोच-विचारकर आर्यजन यथासंभव दुष्टसंगसे बचते और सत्संगकी अभिलाषा रखते हैं।

सज्जन हो या दुर्जन, अपनी संगतिमें आनेवालोंको अपने जैसा ही बनानेका यत्न करते हैं। साथ ही अच्छेकी अपेक्षा बुरेका प्रभाव बहुत शीघ्र होता है। अच्छा काम करनेके लिए श्रम अधिक करना पड़ता और समय भी लगता है, पर बुरा करनेके लिए न तो श्रमकी जरूरत पड़ती है और न समयकी ही, जहाँ किसी ग्रन्थके लिखनेमें वर्षभर श्रम करना पड़ता है वहीं उसे जला डालनेमें पाँच मिनट भी नहीं लगते। आगमें झोंकनेके लिए कितना श्रम चाहिये? कितनी भी

विद्वत्ता क्यों न हो, किसी उत्कृष्ट ग्रन्थके लिखनेमें वह कम ही पड़ती है, पर उसी ग्रन्थको जला डालनेके लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' भी चल जाता है। किसी रासायनिक औषधके सेवनसे धीरे-धीरे प्राप्त होनेवाले आरोग्यकी तरह सत्संग जहाँ विलम्बसे फलप्रद होता है वहीं कुसंग संक्रामक रोगकी तरह सहवाससे ही तत्काल अपना प्रभाव दिखाता है।' 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इस न्यायसे श्रेष्ठ लोगों द्वारा अपने आचरणका अनुकरण किये जानेके कारण आर्य स्वयं तो दुर्जनोंका सहवास करते ही नहीं, दूसरोंको भी दुर्जनोंके सहवाससे दूर ही रखते हैं। 'सत्संसर्गः स्वर्गः'—सत्संग ही स्वर्ग और मोक्ष है, फलतः—'असत्संसारविषयसंसर्ग एव नरकः'—मिथ्या संसार-मोहसे ग्रस्त, विषयासक्त दुर्जनोंका सहवास स्वनाश और नरकवास ही है। श्रीगोस्वामीजी तो इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं—

'बर बर बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देहु बिधाता ॥'

श्रुति-स्मृतिके आधारपर आर्यधर्ममें ब्राह्मणादि क्रमसे प्रधानतः चार ही वर्ण दीखते हैं। शेष सभी जातियाँ और उपजातियाँ हैं।

'चाण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात् प्रतिश्रयः।'

अनीतिसे सने लोगों और वैसी ही उनकी सन्ततिको उस जातिसे दूर (बहिष्कृत) रखनेकी आर्योंमें प्रथा रही। कोई भी पतितोंका सहवास न करता था। बहिष्कृत लोगोंके साथ सह-भोजनादि व्यवहार तो दूर रहा, आर्य उनके स्पर्शसे भी बचते रहे। इसमें आर्योंकी एकमात्र यही विवेकदृष्टि थी कि 'इन पतितोंके संसर्गसे शेष लोग बिगड़ने न पायें।' उनकी यह निकृष्ट अवस्था देखकर भी कोई ऐसा निषिद्ध आचरण आगे न करे, सभी सजग रहें—एकमात्र इसी भावनासे उन दुर्जनोंको जातिसे बहिष्कृतकर गाँवसे बाहर रखा जाता था।

'न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥'

महाराज मनु कहते हैं कि निन्द्य कर्म करनेवाले पतितों, चाण्डालों, पुल्कसों, मूर्खों, मदोन्मत्तों, अन्त्यों, अन्त्यव्यवसायियों आदि का कभी सहवास न करें। यथासम्भव उनके सम्पर्कसे दूर रहें। यहाँ 'पतित' शब्दमें शेष सभी संकरजातियोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

पहले निकृष्ट जातिसे उत्पन्न लोगोंको अपनेसे बहुत दूर रखा जाता था। फिर उससे कुछ ऊपरकी जातिसे उत्पन्न लोगोंको उनसे कुछ निकट रखा जाता था। उनकी उत्कृष्टता-निकृष्टताके अनुरूप उनका जीवन-व्यवसाय निर्धारित कर दिया जाता था। अपने संस्कार और संसर्गको बिगड़नेसे बचा उनके सुधारका यत्न किया जाता था। उनके वंशपरम्परागत व्यवसायोंसे समाजका कार्य सुव्यवस्थित चलाया जाता था। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने वर्णके व्यवसायसे प्रेम रखकर उसमें निपुण होता और उन-उनको तत्तत् वर्णव्यवसायोंका ज्ञान सुलभ कराया जाता था। 'मनुस्मृति'के दसवें अध्यायमें ये उपजातियाँ और इनके विभिन्न कार्य परिगणित हैं।

इस तरह प्राचीन समयमें सभी लोग सुख-शान्तिके साथ श्रुति-स्मृत्युक्त अपने-अपने वर्णधर्मोंका पालन करते और आत्मानुसन्धान-से तृप्त होते थे। इस प्रकार हमारे प्राचीन आर्य एक आदर्शमय, उच्च सांस्कृतिक जीवन बिताते थे। उनका वह जीवन सभी दृष्टियोंसे दिव्य होता था। मानव—'पापः पापेन'—पापकर्मोंसे पापी बनकर पाप-योनिमें जन्म पाता है और—'पुण्यः पुण्येन'—पुण्यकर्मोंसे पुण्यवान हो पुण्ययोनिमें जन्मता है। 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति'—मानव पाप-पुण्यमेंसे जैसा करता है, विधि-निषेधमेंसे जैसा आचरण रखता है वैसा ही बनता है। अर्थात् पुण्य और पापकर्मोंके अनुसार वह पुण्यवान्, पापी, सुखी या दुःखी होता है।

'अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।'

किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका सुख-दुःखात्मक फल विना भोगे छुटकारा नहीं ।

'लोके गुरुत्वं विपरीततां वा, स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति ।'

मानव अपने उच्च या नीच कर्मोंके अनुसार ही उच्च या नीच बनता और उच्च-नीच योनियोंमें जन्म लेता है । पूर्वजन्मोंका फल ही जन्म है ।

नर-शरीरकी सार्थकता

'इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥'

श्रुति कहती है कि देह छूटनेके पहले ही यदि उस परमात्मतत्वको जान मुक्त न हुए तो अनेक लोकों और अनेक योनियोंके बीच—'यथा कर्म यथा श्रुतम्'—कृत कर्म और प्राप्त ज्ञानके अनुसार ही बार-बार जन्म लेना पड़ता है ।

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति,
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।'

'केनोपनिषद्' का स्पष्ट वचन है कि इसी नर-जन्ममें परमात्मसाक्षात्कारकर मुक्त हुए तो जीवने अपना यह जन्म सफल कर लिया—परमात्माके सत्यस्वरूपकी प्राप्तिकर जीव कृतकृत्य हो गया, और यदि इस जन्ममें ही मुक्त न हुआ तो वह अकथनीय घाटा उठाता है ।

'अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽवुधा जनाः ॥'
'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥'

'बृहदारण्यक' और 'ईशावास्योपनिषद्' के इन मन्त्रोंमें कहा गया

है कि जो जीव इसी जन्ममें आत्मज्ञान प्राप्तकर मुक्त नहीं हो जाता, वह अविद्वान्, मन्दबुद्धि और आत्मघातक ही है; ऐसोंको मरनेके बाद अन्धकारसे व्याप्त, आनन्दशून्य, असुरोंको प्राप्त होनेवाले लोकमें जन्म लेना पड़ता है।

'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥'

योगिराज श्रीशुकाचार्य श्रीमद्भागवतमें लिखते हैं कि दुस्तर भव-सागरको लाँघने, पार जानेके लिए यह नरदेह-रूप नौका प्राप्त है जिसके कर्णधार श्रीसद्गुरु हैं और विना श्रमके तेजीसे उसे पार लगानेवाली अनुकूल हवा परमात्मा ही है। उसीकी पूर्ण कृपा अपेक्षित होती है। सर्वाङ्गपूर्ण यह नरदेह प्राप्तकर जो सद्गुरुके उपदेशसे परमात्माकी कृपा सम्पादितकर इसी जन्ममें आत्मज्ञान द्वारा मुक्त नहीं होता, शुकाचार्य उसे 'आत्मघाती' कहते हैं। श्रीसमर्थ भी लिखते हैं—

'नरदेह दुर्लभ। अल्प संकल्पाचा लाभ।
गुरु कर्णधारी स्वयंभ। सुख पाववी॥
देव अनुकूल नव्हे जया। स्वयें पापी तो प्राणिया।
भवाब्धि न तरवे तया। आत्महत्यारा बोलिजे॥
ज्ञानेवीण प्राणियासी। जन्म मृत्यु लक्ष चौऱ्यांशी।
तितुक्या आत्महत्यारा त्यासी। म्हणोन आत्महत्यारा॥
नरदेहीं ज्ञानेवीण। कदा न चुके जन्म मरण।
भोगणें लागती दारुण। नाना नीच योनी॥
रीस मर्कट श्वान सूकर। अश्व वृषभ म्हैसा खर।
काक कुक्कुट जंबुक मार्जार। सरड बेडूक मक्षिका॥

अखंड घडे श्रवण मनन। तरीच पाविजे समाधान।
पूर्ण झालिया ब्रह्मज्ञान। वैराग्य भरे आंगीं॥

परम दुर्लभ और सुदृढ़ नरदेहरूप नौका, गुरुरूप कर्णधार और ईश्वर-कृपारूप अनुकूल वायु पाकर भी जो मानव भवसागर पार नहीं करता वह आत्म-हत्यारा है। ज्ञानके बिना मानवको चौरासी लाख जन्म-मृत्युएँ भोगनी पड़ती हैं, मानो वह उतनी ही (चौरासी लाख ही) आत्महत्याएँ करता है, इसीलिए वह आत्महत्यारा हुआ। प्राणी नरदेहमें जबतक ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता तबतक उसका जन्म-मरण नहीं छूटता और नाना दारुण नीच योनियाँ भोगनी पड़ती हैं। ज्ञान न होनेके कारण ही प्राणीको रीछ, बन्दर, कुत्ता, सूअर, घोड़ा, बैल, भैंसा, गधा, कौवा, मुर्गा, स्यार, बिलार, गिरगिट, मेढ़क, मक्खी आदि-की योनियाँ भोगनी पड़ती हैं। जब अखण्ड श्रवण और मनन सम्पन्न हो तभी चित्त शान्त होता है। और जब ब्रह्मज्ञान पूर्ण होता है तब वैराग्य शरीरमें समाता है।

श्रीगोस्वामीजी भी कहते हैं—

'नर-तनु भवसागर कहँ बेरे। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरे॥
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥'

'जो न तरै भवसागरहिं, नर समाज अस पाई।
सो कृत निन्दक मन्दमति, आतमहन गति जाई॥'

अतएव श्रीसमर्थ आगे लिखते हैं—

या नरदेहाचेनि लागवेगें। सार्थक करावं संतसंगें।
नीच योनी दुःख मागें। बहुत भोगिलें॥
नरदेहीं आलिया एक। कांहीं करावें सार्थक।
जेणें पाविजे परलोक। परम दुर्लभ जो॥

विधियुक्त ब्रह्मकर्म । अथवा दया दान धर्म ।
अथवा करणें सुगम । भजन भगवंताचें ॥
अथवा कीजे परोपकार । अथवा ज्ञानाचा विचार ।
निरूपणें सारासार । विचार करणें ॥
पाळावी वेदाची आज्ञा । कर्मकांड उपासना ।
जेणें होइजे ज्ञाना । अधिकार पात्र ॥
हे कांहींच न धरी जो मनीं । तो मृत प्राय वर्ते जनीं ।
जन्मा येऊनि तेणें जननी । वृथाच कष्टविली ॥
कर्म नाहीं उपासना नाहीं । ज्ञान नाहीं वैराग्य नाहीं ।
योग नाहीं धारिष्ट नाहीं । कांहींच नाहीं पाहतां ॥
ऐसे प्रकारीचे पाहतां जन । ते जितचि प्रेतासमान ।
त्यासी न करावें भाषण । पवित्र जनीं ॥

यह मनुष्य जन्म पाकर सन्तोंके समागम द्वारा जीवन सफल कर लेना चाहिये, क्योंकि पहले अनेक नीच योनियोंमें बहुत दुःख सह लेनेके बाद यह जन्म मिला है। यह नरदेह प्राप्तकर जीवन कुछ सार्थक कर लिया जाय। साधनकर परम दुर्लभ परलोक प्राप्त किया जाय। वे साधन ब्रह्मकर्म या दान, दया और धर्म हैं। इससे भी सरल साधन भगवद्भजन है उसे ही किया जाय। अथवा परोपकार करें, अथवा आत्मज्ञानका विचार करें, अथवा सारासार (नित्यानित्य वस्तुओं) का विचार (विवेक) करें। वेदकी आज्ञाका पालनकर कर्मकाण्ड और उपासना करें जिससे प्राणी ज्ञानका अधिकारी होता है। और यदि इनमें से जो कुछ भी न करें वह जीवित ही मृतक-सा है, उसने जन्म लेकर व्यर्थ ही माताको कष्ट दिया। जिसमें उपासना, ज्ञान, वैराग्य, योग, धैर्य आदि कुछ भी परलोकके साधन नहीं वह जीवित प्रेत है। पवित्र, शुद्धाचारी लोगोंका कर्तव्य है कि उनसे भाषणतक न करें।

वर्णसंकर राष्ट्रहितार्थ घातक

'रमणीयाचरणाः रमणीयां योनिमापद्येरन्,
ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा।
कपूयाचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन्,
श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।'

'छान्दोग्य'-उपनिषद्के इस मन्त्रमें कहा गया है कि प्राणी अपने-अपने पुण्यके तारतम्यसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियोंमें जन्म पाता है। और उतनी पुण्य-सामग्रीसे रहित अपने-अपने कर्मके तारतम्य-से सूअर आदि प्राणि-वर्गों तथा नीच जातियोंमें जन्म ग्रहण करता है।

'एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिमन्यते।
शुनां योनिशतं गत्वा चाण्डालेष्वभिजायते॥'

इसी तरह अधम जातिमें जन्म लेनेके निम्नलिखित और भी कारण बतलाये गये हैं—गुरु, माता, पिता और कुल-स्त्री का त्याग करना, नीच जातिके साथ भोजन और विवाह करना, सतीका व्रत भंग करना, देव-पितरोंके कामोंमें क्रोध करना, आगत अतिथिको कटु वचन बोल दुःखी करना, व्रत-पर्वादि पुण्य दिनोंमें मैथुन करना, योग्य दिवसमें विधिवत् श्राद्ध न करना, रोगज्ञान न होते हुए भी औषध देना, शूद्रसे मन्त्रोपदेश लेकर अनुष्ठान करना, गुरु-पत्नी-गमन, सुरापान, सोनेकी चोरी और ब्रह्म-हत्या तथा ऐसे महापापियोंसे सम्पर्क करना, मदवश पूज्योंका अपमान करना, आदि।

'पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्।'

अनार्यता, निष्ठुरता, क्रूरता, निष्क्रियता, असभ्यता, अविवेक, अनीति, नास्तिकता, निषिद्धाचरण, दुष्कर्म-प्रवृत्ति आदि वर्णसंकरताके सूचक लक्षण हैं।

'पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव च।
न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिः स्वां नियच्छति ॥'

संकरसे उत्पन्न व्यक्ति अपने व्यवहार और आचारसे अपनी माता या पिताके गुण, कर्म तथा शील व्यक्त करता है; वह अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ता।

'कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसंकरः।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥'

उत्तम कुलमें उत्पन्न व्यक्तिको भी यदि कोई दुर्बुद्धि हो तो यही समझना चाहिये कि उसका जन्म दूषित ही है। उसके जन्ममें कारणीभूत माता-पिताके कुलीन और शीलवान् होनेपर भी गर्भ-धारण के समय यदि उनके मनमें दुष्ट विचार उठें या दुष्ट पुरुषोंका ध्यान आ जाय तो भी होनेवाली सन्तान दुष्ट ही होती है। इससे यह सूचित होता है कि शुद्ध माता-पिताके शुद्ध विचार और परमात्माके पवित्र ध्यानसे उत्पन्न व्यक्तिकी ही बुद्धि शुद्ध रह सकती है। श्रीसमर्थ भी कहते हैं—

'शुद्ध बीजापोटीं। फळे रसाळ गोमटीं ॥'

अर्थात् शुद्ध बीजसे ही सरस, सुन्दर फल पैदा होते हैं।

'यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥'

त्रिकालदर्शी महाराज मनुका कहना है कि जिस राष्ट्रमें वर्णसंकर किया जाता और वर्ण-धर्मके द्वेषी पैदा होते हैं उस राष्ट्रका कभी कल्याण नहीं होता। स्पष्ट है कि सभी भारतीय समस्त राष्ट्रोंका कल्याण चाहते और अखिल विश्वके लिए अपना राष्ट्र आदर्शभूत बनानेकी इच्छा रखते हैं। अतः हम भी परमात्माके दिव्य चरणोंमें यही प्रार्थना करते हैं कि उनकी इस कामनामें प्रतिबन्धक सभी प्रकारके निकृष्ट आचार

विचार समूल नष्ट हों, इस महत्त्वाकांक्षाके अनुरूप ही उनके सभी आचार-विचार बनें और आर्य-धर्म एवं आर्यसंस्कृतिका उद्धार हो।

ध्यान रहे कि दुष्ट पुरुष जीवनभर कण्टकप्राय होता और मरनेपर भी पिशाच बनकर सज्जनोंको कष्ट देता है। कुलीन और सदाचारी माता-पितासे उत्पन्न पुरुष भी यदि ऐसे दुष्ट पिशाच या ऐसी ही योनिकी किसी दुष्टशक्तिके फेरमें पड़ जाय तो वह भी असत्कर्म करने लगता है। ग्रह-बाधाओंसे भी कुलीनकी मति भ्रष्ट होती देखी जाती है। इन सभी बाधाओंकी निवृत्ति एकमात्र धर्मानुष्ठानसे होती है।

'सुखं वाञ्छन्ति सर्वेऽपि तच्च धर्मसमुद्भवम्।
तस्माद्धर्मः सदा कार्यः सर्ववर्णैः प्रयत्नतः॥'

सभीके द्वारा चाहा जानेवाला सुख केवल धर्माचरणसे ही प्राप्त होता है। अतएव सभी वर्णके लोग अपने-अपने धर्मके अनुकूल आचरण करें।

'आत्मीये संस्थिते धर्मे शूद्रोऽपि स्वर्गमश्नुते।
परधर्मो भवेत् त्याज्यः सुरूपपरदारवत्॥'

अपने वर्ण-धर्मानुकूल आचरण करनेपर शूद्रादिको भी स्वर्ग प्राप्त होता है। दूसरोंका धर्म अच्छा लगनेपर भी कभी उसका आचरण न करना चाहिये। जिस तरह अपनी स्त्रीमें ही संभोगकी इच्छा रखना धर्म है उसी तरह स्वजातिका आचार-पालन ही धर्म है। परस्त्री कितनी भी सुन्दरी क्यों न हो, संभोगकी दृष्टिसे वह जिस तरह सर्वथा त्याज्य ठहरती है उसी तरह परधर्म कितना भी उच्च प्रतीत हो, अनुकरणकी दृष्टिसे वह सर्वथा त्याज्य ही है।

'चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥'

ब्रह्मपुत्र महाराज मनुका कहना है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण; स्वर्ग, मर्त्य और पाताल, ये तीन लोक ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम, किम्बहुना भूत, भविष्य, वर्तमान सारी सृष्टि वेदसे ही उत्पन्न हुई, सब कुछ उसीसे प्रसिद्ध है। अतः वर्णव्यवस्था वैदिकका न बताना भ्रम ही है। आर्यधर्म ४ वेद, ४ पुरुषार्थ, ४ वर्ण और ४ आश्रमोंकी १६ कलाओंसे पूर्ण है। वेद जिसके लिए जो धर्म कहे वही उसके लिए धर्म हो सकता है, कितना भी उत्तम अन्यवर्णीय धर्म उसके लिए अधर्म ही है।

'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥'

फिर भी स्मरण रहे तत्त्वज्ञानी आर्य महात्मा लोग विद्याविनय-सम्पन्न सत्पात्र ब्राह्मण, गाय-गजादि प्राणी, श्वान आदि और श्वपचोंके बीच एक ही अखण्ड आत्मतत्त्वको देखते हैं। व्यावहारिक भेददृष्टिके बीच उनकी यह आत्मिक समदृष्टि सचमुच अलौकिक है 'साधवो दीन-वत्सलाः'—साधु-महात्मा दीन-दयालु होते हैं। आर्योंका यह स्वभाव ही है। अतएव वेद स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—'सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।'—सभी एक होकर प्रेमसे रहें, परस्पर प्रेमपूर्ण भाषण करें, परस्परकी भावनाओंपर चोट न पहुँचनेवाला बर्ताव करें, परस्परका दुःख जानें और परस्पर उनके निवारणका यत्न करें।

हरिजनोंका उद्धार

सचमुच हरिजनोंका उद्धार होना ही चाहिये। उनके आचार-विचार सर्वथा पवित्र बनने चाहिये। सोचनेकी बात है कि जो एकमात्र विश्वके उद्धारार्थ आविर्भूत हो तदर्थ कमर कसे हो और जिसे सभी अपने ही प्रतीत हों वह आर्यधर्म क्योंकर केवल हरिजनोंका ही पोषक-रक्षक

न बनेगा ? अनन्त कालसे अपनी छत्रच्छायामें पल रहे हरिजनोंको क्या वह कभी दूर रख सकता है ? उसीके हरिजन बालक उसे पराये लग सकते हैं ? वैदिक-धर्म तो यही बताता है कि सभीपर निरपेक्ष प्रेम रखो, निष्काम कर्म करो, परहितके साधनमें पराकाष्ठासे यत्न करो। इसलिए नैतिक दृष्टिसे ही हरिजनोंकी उदार सहायता करनी चाहिये, 'हरिजनोंकी संख्या अधिक होनेसे उनका समाज हमारे लिए सहायक सिद्ध होगा' इस स्वार्थसे उनकी सहायता संकुचित ही मानी जायगी, उसका उतना नैतिक मूल्य न होगा जितना सर्वथा उनकी निरपेक्ष सहायताका होगा।

अतः भारतीय जनसाधारणका कर्तव्य है कि वे हरिजनोंकी नैतिकता बढ़ायें, उनमें परमात्माके प्रति भक्तिभावना बढ़ायें। सुरापान आदि दुर्व्यसनोंसे उन्हें छुड़ायें और सन्मार्गपर लगायें जिससे उनका जीवन परिशुद्ध हो वे दिव्य सुखशान्तिसे रह सके। एतदर्थ सभी निरन्तर यत्न करें। हरिजनोंके खाने-पीनेकी समस्याका अविलम्ब समाधान हो। उनकी इस दयनीय दशाकी सच्ची कल्पना सिवा भुक्तभोगीके कौन कर सकता है जब कि 'भूख-भूख' करते अपने दुधमुंहे बच्चोंको देनेके लिए उनकी झोपड़ियोंमें कुछ भी दिखाई नहीं देता। लाचार हो उन भूखे बच्चोंको जबर्दस्ती दवा-फुसलाकर सदा सुलानेवाले उन हरिजन माता-पिताओंकी पीड़ा उन्हींका हृदय जान सकता है। दूसरे कितनी ही कल्पना क्यों न करें, उस दुःख, उस पीड़ा और उस शल्यकी सच्ची अनुभूति कभी नहीं कर सकते।

ध्यान रहे कि बलात् उन्हें देवस्थानोंमें ले जाकर देवदर्शन कराना ही उनके उद्धारका कार्य नहीं कहा जा सकता। मन्दिर-प्रवेशसे वे अधिक भक्त हो जाते हैं, यह भी नहीं दीखता, प्रत्युत उससे वे और अधिक नास्तिक ही बने दिखाई पड़ते हैं। आखिर मन्दिरप्रवेश, मूर्तिदर्शन

किसलिए किया जाता है ? इसीलिए कि उन मूर्तियोंके प्रति हमारी देवत्व-की भावना है। फिर जब मूर्तिमें परमात्माका अस्तित्व मान लिया गया तो 'किसका कैसा हृदय है' यह भी परमात्मासे कैसे छिपा रह सकता है ? देवता सभीके लिए एक ही है। वही ईश्वर सभीके हृदयप्रदेशमें निवास करता है। भक्तिसे बढ़कर उसे और कुछ भी प्रिय नहीं है। यदि मन्दिर-प्रवेश करने या करानेवालोंमें सचमुच भगवान्के प्रति भक्ति हो तो वह कभी उन्हें दूर नहीं रख सकता।

सच तो यह है कि ऐसे ही स्थानपर भगवान्का प्राकट्य होता है। चोख्या मेळा, भक्त रैदास आदि भी हरिजन ही तो रहे ! भगवान्ने कई बार चोख्याकी थालमें भोजन किया। बड़ी पवित्रतासे बनाये श्रीमानोंके पाँच पकानका नैवेद्य त्याग—शहनाईकी वह मंजुल ध्वनि, वह दिव्य उत्सव त्याग—उसने कितनी ही बार चोख्याके हाथसे रोटी छीन-छीनकर परम बुभुक्षितकी तरह खायी। आखिर परमात्माके लिए भी प्रतिबन्ध ही कहाँ ? वह कहाँ नहीं और किसका रूप नहीं ! नामदेवका जन्म दर्जीके घर हुआ था। तुकारामका जन्म शूद्र वर्णमें हुआ। गोरा कुम्हार, सेना नाई, चोख्या पञ्चम जाति, रोहिदास (रैदास) चमार तो सन्त कबीर मुसलमान रहे। आखिर किस जातिमें भगवान्के भक्त नहीं हुए ? ये सभी परमात्माके सगुण-निर्गुण स्वरूपका साक्षात्कारकर ब्रह्मनिष्ठ रहे। उनमें अघटित घटना घटानेकी दिव्य सामर्थ्य रही जब ये ध्यानमग्न रहते तो इनका वेष धारणकर स्वयं परमात्मा इनके सब काम किया करते। सारांश, यहाँ हार्दिक, सोत्कण्ठ 'भक्तिवशता' आवश्यक होती है, अतः समाजमें उसीको बढ़ाना चाहिये।

और यदि केवल हठवादिता ही हो तो बात कठिन है ! परमात्माको छल-कपट कभी मंजूर नहीं, वह उसे कभी सह नहीं सकता। यदि वह बिगड़ उठा तो कौन, किसको बचा सकता है ? 'अभिमानद्वेषित्वात्

दैन्यप्रियत्वाच्च ।'—परमात्माको निरभिमानता और विनय प्रिय हैं। अतः वैसा ही व्यवहार करना चाहिये। जिस तरह भक्तिकी वृद्धि हो उसी तरहका यत्न होना चाहिये। कोई भी किसी तरहका हठ या दुराग्रह न करे। जिसे जो कर्तव्य नहीं बताये गये, उनके करनेमें वह कभी प्रवृत्त न हो। अन्यथा उसे प्रथम भक्तिहीनताका, द्वितीय आज्ञाके उल्लङ्घनका और तृतीय कर्तव्यलोपका दण्ड भुगतना पड़ता है। हम यही चाहते हैं कि ये दोष कभी किसीके पल्ले न पड़ें।

'न देवानामतिव्रतं शतात्मा च न जीवति ।'

भगवती श्रुतिमाता स्पष्ट कहती है कि देवताओंके बनाये नियमोंका कभी उल्लंघन न करें। यदि कोई ऐसा करता है तो वह शतायु होनेपर भी अधिक दिन जीवित नहीं रह सकता। दुनियाकी कतिपय घटनाएँ देख इस कथनकी सत्यता भी प्रमाणित हो जाती है। आखिर और भी अनेक ऐसे कार्य पड़े हैं जो भावनाके साथ किये जा सकते हैं। फिर हमारे सुधारकबन्धु इसी बात-पर क्यों पिल पड़ते हैं, इसीका सखेद आश्चर्य होता है। 'रुद्रयामल' में लिखा है—

'अन्त्यजाद्या देवगृहं प्रविशेयुस्तदा ध्रुवम् ।
देवतानां कलानाशो दुर्भिक्ष्यादिकमेव च ।
रोगबाधादिकं चापि भक्तानामुपजायते ॥'

अन्त्यजोंके मन्दिरप्रवेशसे मन्दिरस्थ देवताओंकी देवकला नष्ट हो जाती और अकाल, महामारी आदि फैलने लगते हैं। देखा जाय तो इधर कुछ वर्षोंसे कोई भी सुखी नहीं दीखता। अकाल, महामारियोंकी बाढ़-सी आ गयी है, जलप्रलय बाढ़) से भारी जनहानि हो रही है, अनेक प्रकारकी पीड़ाओंसे लोगोंमें हाहाकार-सा व्याप्त है। इसके वास्तविक कारणोंको ढूँढ़ उन्हें दूर करना हमलोगोंका अनिवार्य कर्त्तव्य

है। वेदोक्त, आगमोक्त स्थलोंमें स्पर्शास्पर्शके कड़े नियम हुआ करते हैं। समझमें नहीं आता कि ऐसे स्थलोंपर शास्त्रकारों द्वारा अन्त्यजादिका प्रवेश निषिद्ध किये जानेके बावजूद क्योंकर हमारे ये सुधारकबन्धु व्यर्थ ही वेद और वेदाचारयुक्त ब्राह्मणोंके विरुद्ध व्यवहार करते और क्षोभ और तनातनीका वातावरण पैदा करते हैं? उनके ऐसे व्यर्थके कामोंसे हृदय व्यथित हो उठता और भारी खेद होता है।

यदि वे उनके लिए अलग बस्तियोंको तरह अलग मन्दिर भी बनवाकर उन्हें भगवान्की भक्ति करनेमें प्रवृत्त करें तो किसीका विरोध नहीं हो सकता। तब वास्तवमें उनका उद्धार भी हो सकेगा—उनकी भक्तिको सात्विक रूप देने जैसा होगा। अन्ततः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज इस दिशामें अपनायी जा रही पद्धति यदि भगवान्को ही पसन्द हो तो कौन इसका विरोध कर सकेगा? इसलिए हम तो भगवान्से ही बार-बार अनुरोध करते हैं कि प्रभो! यदि तुम्हें यह बात मान्य न हो तो हमारे इन बन्धुओंको इन अनिष्टकर आचरणोंसे बचनेकी प्रेरणा दो, कारण तुलसीके शब्दोंमें—'तुम प्रेरक सबके हृदय' हो।

भगवती श्रुति कहती है कि यह सम्पूर्ण जगत् उसी परमेश्वरका रूप है—'पुरुष एवेदं सर्वम्।'

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।'

भगवान्ने हमें सर्वत्र उसे ही देखनेको कहा है। 'मयि सर्वमिदं प्रोतम्'—सब कुछ मुझमें ही ग्रथित है, यह कहा है। अतः सब भूतोंमें भगवान्को देखनेका पाठ पढ़ानेवाले आर्यधर्मके अनुयायी कभी भी किसीको परायेकी दृष्टिसे नहीं देखते और न कभी देखा ही है। प्राचीन ऋषि-मुनि और भगवान् शंकराचार्यकी तो बात ही क्या, उनसे भी अर्वाचीन सन्तोंमें यह बात स्पष्ट देखनेको मिलती है। पहले आद्य शंकराचार्यको ही देखिये। वे 'मनीषा-पञ्चक' में लिखते हैं—

'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते,
या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी।
सैवाहं न च दृश्यवस्त्विति दृढप्रज्ञापि यस्यास्ति चेत्,
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम॥'

'जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों कालोंमें जो केवल ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप है और जो अपने साक्षिरूपसे चींटीसे ब्रह्मदेवतक सभी देहोंमें व्याप्त होकर स्थित है, वही मैं हूँ। और इन दृश्य वस्तुओंके बीचका कोई भी रूप मेरा अपना वास्तविक रूप नहीं।' आचार्य कहते हैं, जिस पुरुषमें उपर्युक्त भावना भलीभाँति उदित हो चुकी हो—निश्चय ही वह मेरा गुरु है, भले ही वह ब्राह्मण हो या चाण्डाल। आचार्यने इस श्लोकमें श्रीसमर्थके इस सिद्धान्तका भाष्य-सा कर दिया है—

'देहाचें जें थोरपण। तें परब्रह्मीं न चले जाण।
येथें होतसे निर्वाण। अहंभावासी॥'

देहबुद्धिका वड़प्पन परमात्माके सामने चल नहीं सकता, वहाँ तो अहंभावका विलय ही हो जाता है। श्रीसमर्थ आगे कहते हैं—

'ब्राह्मणाचें ब्रह्म तें सोवळें। आणि शूद्राचें ब्रह्म तें ओवळें।
ऐसें वेगळें आगळें। तेथें असेचि ना॥'

ब्राह्मणका ब्रह्म शुद्ध है और शूद्रका अशुद्ध, ऐसा भेदाभेद वहाँ है ही नहीं। 'सर्वांसि मिळोनी ब्रह्म एक'—सब मिलाकर एक ब्रह्म ही है। वहाँ अनेकत्व नाममात्रको नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी लिखते हैं—

'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देखै ब्रह्मरूप सब माहीं॥'

प्रसिद्ध है कि 'शुनि चैव श्वपाके च' की निर्विशेष आत्मिक समताकी भावना आचार्य शंकरमें कितनी दृढ़ है, इसकी परीक्षाके लिए साक्षात् विश्वनाथ ही चाण्डालका वेष ले उनके सामने उपस्थित हुए थे। आचार्य

शंकरकी यह बात तो बहुत पुरानी हो गयी, इधर ४-५ सौ वर्षोंके बीच भारतके विभिन्न भागोंमें हुए ब्रह्मनिष्ठ सन्त-महात्माओंके चरित्र भी इसी बातकी साक्षी दे रहे हैं कि वे सर्वभूतोंमें निर्विशेष आत्मभावना रखते थे। उत्तर भारतके प्रसिद्ध सन्त श्रीरामानन्दको कौन नहीं जानता? उनमें यह आत्मिक समता कितनी भरी थी इसका प्रबल प्रमाण उनका पट्टशिष्य मुसलमान सन्त कबीरका होना है। उत्तर भारतमें ऐसे अनेक सन्तोंके उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

दक्षिण भारतमें भी ऐसे उदाहरणोंकी कमी नहीं। वहाँ तो दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीसे लेकर अभी-अभीतकके महाराष्ट्र-सन्तोंके ऐसे उदार चरित्र पाये जाते हैं। श्रीमुकुन्दरायने जयपाल राजाके साथ ही उसके घोड़ेको भी १८ दिनोंकी निर्विकल्प समाधि लगवा दी थी। सन्त ज्ञानेश्वरने भैंसेसे वेदमन्त्र कहवाये और जड़ भीतको भी चलाकर दिखाया। आज भी वह श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी सर्वात्मभावनाकी साक्षी देती 'आळन्दी' (ज्ञानदेवका समाधिस्थल, जो पूनासे २४ मील पर है) से कुछ ही दूर विद्यमान है जहाँ उस भैंसेकी भी समाधि बनी हुई है। 'श्रीगुरुचरित्र' नामक मराठीके प्राकृत ग्रन्थमें लिखा है—दत्तात्रेयावतार श्रीनृसिंह सरस्वतीने अन्त्यजों द्वारा वेद कहलवाकर पण्डितोंका गर्व नष्ट किया। सर्वभूतोंमें परमात्माका साक्षात्कार करनेवाले सन्त एकनाथके सम्बन्धमें यह सुप्रसिद्ध है कि उनके घरसे श्राद्धीय स्वयंपाक (रसोई) की सुगन्ध पा रास्तेके झाड़ूवाले (हरिजन) ने जब यह कहा कि 'अहा! ऐसा सुमधुर अन्न हमलोगोंके भाग्यमें कहाँ?' तो उसे सुन नाथने तत्काल उस अन्नसे उसीको तृप्त कर दिया। उनके सम्बन्धमें यह भी प्रसिद्ध है कि एक वार काशीसे गंगाजलकी बँहगी रामेश्वरको चढ़ानेके लिए ले जाते समय मार्गमें प्याससे मर रहे गधेको उन्होंने वह जल पिला दिया।

श्रीसमर्थने लकड़हारे (मुसहर) द्वारा पण्डितोंसे शास्त्रार्थ कराया।

उसके सामने कई रेखाएँ खींच उससे उन्हें लाँघनेको कहकर क्रमशः उसे पूर्वके शूद्र, वैश्य और क्षत्रियजन्मोंका ज्ञान करा, अन्तिम दो रेखाएँ लाँघनेके बाद चारों वेद, छहों शास्त्र और अट्ठारहों पुराणोंमें निष्णात बना दिया और वासुदेव शास्त्रीके साथ शास्त्रार्थ कराया। आज भी 'चाफळ' स्थानपर उसकी समाधि विद्यमान है। अब भी वहाँ महोत्सव-के अवसरपर भगवान्का रथ उसकी समाधितक ले जाया जाता है। ये बातें आज भी अपनी सत्यताकी साक्षी दे रही हैं। 'भजन' की व्याख्या करते हुए श्रीसमर्थ लिखते हैं—

'भेटो कोणी एक नर। धेड महार चांभार।
त्याचें राखावें अंतर। या नांव भजन॥'

जो कोई भी व्यक्ति मिले, भले ही वह डोम हो या चमार, उसका मन रखना—उसे सन्तुष्ट करना ही भजन है। श्रीसमर्थकृत 'भजन' की यह व्याख्या निम्नलिखित श्लोकसे अक्षरशः कितनी मिलती-जुलती है !

'येन केनापि भावेन यस्य कस्यापि देहिनः।
सन्तोषं जनयेत् प्राज्ञस्तदेवेश्वरपूजनम्॥'

जिस किसी भी भावसे आये जिस किसी प्राणीको सन्तुष्ट करना ही भगवत्पूजन करना है। क्या ये सभी स्थावर-जङ्गमोंमें व्याप्त श्रत्यु-पदिष्ट परमात्माका साक्षात्कार करनेवालोंके सुस्पष्ट उदाहरण नहीं हैं ? क्या ये आर्योंकी समदृष्टिकी साक्षी नहीं देते ? इस तरह स्पष्ट है कि हमारे सभी आर्योंने अवसर आनेपर सदैव अपनी सर्वात्मभावनाकी साक्षी देकर अपने आचारका पालन किया है।

'नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव।'

महात्मा लोग कभी भी विधिका उल्लंघन नहीं करते।

रामराज्यकी उत्कण्ठा

यह सच है कि आर्योंने स्वभावतः विषम इस जगत्‌में उपर्युक्त प्रसंगविशेषोंमें परमात्माके 'सर्वत्र समवस्थितः' कथनका साक्षात्कार कर दिखाया, फिर भी चूँकि व्यावहारिक विषमता जगत्‌का प्राण है, इसलिए उसे भी उसी रूपमें उन्होंने अपने आचरणमें बनाये रखा। साथ ही दूसरोंको भी उसका उपदेश दिया। देवर्षि नारदके इस वचनकी तरह कि—'ज्ञानोदयादूर्ध्वं भवतु शास्त्ररक्षणम्' (ज्ञानोदयके बाद शास्त्रकी रक्षा होनी चाहिये) श्रीसमर्थने भी कहा है—

'स्वधर्माचा सांभाळ करी। तो विवेक।'

स्वधर्मकी रक्षा करना ही सच्चा विवेक है। प्राचीन आर्योंकी तरह समर्थ भी शिष्योंको सावधानकर दृढ़ताके साथ कहते हैं—

'एकंकार गोलंकार। करूंच नये।'

वर्णसंकर कभी भूलकर भी न करें। वे आगे कहते हैं—

'शब्दीं सर्व आत्मा म्हणावें। आचार सांडून भलतेंचि करावें।
ते पाखांड मत जाणावें। विवेकी असेल तेणें॥
भेद तुटावयाचें स्थळ। तें एक स्वरूपचि निर्मळ।
तेणें हा मायेचा खेळ। समूळ मिथ्या॥'

जबानी सर्वत्र आत्मभावकी बातें करना और व्यवहारमें उसे त्याग कुछका कुछ करना पाखण्ड ही है। वास्तवमें भेद मिटानेका एकमात्र स्थल निर्मल ब्रह्मस्वरूप ही है। यह सारा मायाका पसारा है—खेल है जो जड़मूल मिथ्या ही है। श्रीगोस्वामीजी भी कहते हैं—

'ब्रह्म-ज्ञान बिनु नारि-नर, करहिं न दूसरि बात।
कौड़ी कारण मोहबस, करहिं विप्र गुरु घात॥'

सारांश, जिस तरह श्रुति भगवती कहती है कि 'जीवनमें स्वरूपदृष्टिसे अभेद और व्यावहारिक दृष्टिसे तात्कालिक भेद मानकर प्राणी

सुख-शान्तिमय दिव्य जीवनका अनुभव करें, उसी तरह समस्त ऋषि-मुनि, मनु, आचार्य, सन्त-महात्मा भी यत्र-तत्र वही उपदेश देते हैं—

'स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥'

अपने वर्णाश्रमधर्मके पालनपूर्वक हरिभजनसे ही मानव वैराग्यादि साधनचतुष्टय सम्पन्न होता है ।

कठोर न्याय और अमानुष मृत्युदण्डकी अपेक्षा नीति और धर्मकी शिक्षासे हृदय-परिवर्तन करना शाश्वत और स्थायी धार्मिक राज्यपद्धति है । भारतकी आधुनिक राज्यपद्धति विश्वोद्धारक, मंगलमय 'रामराज्य' नामसे कही जाती है । भारतीय चाहते हैं कि नामकी तरह ही उसका प्रभाव और कृति भी हो । वे चाहते हैं कि आदिकवि वाल्मीकिके शब्दोंमें हमारा यह स्वराज्य निम्नलिखित गुणोंसे युक्त 'रामराज्य' बन जाय—

'प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः ।
निरामयो ह्यशोकश्च दुर्भिक्ष्यभयवर्जितः ॥
न पुत्रमरणं केचिद्द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित् ।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ॥
न चाग्निजं भयं किञ्चिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः ।
न वातजं भयं किञ्चिन्नापि ज्वरकृतं तथा ॥
न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा ।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ॥'

अर्थात् भगवान् रामचन्द्रके राज्यमें जनता अत्यन्त आनन्दित, सन्तुष्ट, बलशाली और धार्मिक होती थी । वह नीरोग, शोकरहित और अकाल आदि भयोंसे शून्य होती थी । रामराज्यमें कोई भी पुरुष अपने जीते जी कभी अपने पुत्रकी मृत्यु नहीं देख पाता था, नारियाँ भी पतिव्रता हो सदैव सौभाग्यवती (अविधवा) होती थीं । रामराज्यमें

कहीं अग्निकाण्ड न होते, न कोई जलमें डूबता था, न तूफान-आँधियाँ आतीं और न कोई ज्वरग्रस्त ही होता था। रामराज्यमें न तो क्षुधासे कोई पीडित होता और न कहीं चोरोंका ही भय होता था। सारे नगर और राष्ट्र सदैव धन्य-धान्यसे पूर्ण रहते।

गोस्वामी तुलसीदासजी भी रामराज्यका कितना सुन्दर वर्णन करते हैं—

'दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य काहू नहि व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति नीति॥
अल्पमृत्यु नहि कौनहुँ पीरा। सब सुंदर सब निरुज शरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥
सब गुनज्ञ सब पण्डित ग्यानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी॥
सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सेवक नर नारी॥
एक नारि व्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥
फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन। चरहिं एक संग गज पंचानन॥
लता बिटप माँगे मधु च्यवहिं। मनभावते धेनु पय स्रवहिं॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भयी सतजुगकी करनी॥
सरिता बहसि सदा बर बारी। सीतल अमल स्वादु सुखकारी॥
कहु कहु सरिता तीर उदासी। बसहु ग्यानरत मुनि संन्यासी॥
तीर तीर देवनके मन्दिर। चहुँ दिसि तिनके उपकर सुन्दर॥
बरनास्रम निज निज धरम, निरत बेदपथ लोग।
चलहिं सदा पावहि सुखहिं, नहि भय सोक न रोग॥
बिधु महि पूर मयूखनि, रवि तप जितनेहि काल।
माँगे बारिद देहि जल, रामचन्द्रके राज॥

अब श्रीसमर्थके शब्दोंमें भी रामराज्यका वर्णन देखिये—

'राम विश्राम देवांचा। राम भक्तासि आश्रयो।
राम योगिमुनिध्यानीं। राम रक्षी ऋषिकुला॥

कीर्ति हो रघुनाथाची। पाहतां तुळणा नसे।
एकबाणी एकवचनी। एकपत्नी च धार्मिकु॥
राज्य या रघुनाथाचें। कळिकाळासि नातुडे।
वहु वृष्टि अनावृष्टि। हें कदा न घडे जनीं॥
उद्वेग पाहतां नाहीं। चिन्तामात्र नसे जनीं।
व्याधि नाहीं रोग नाहीं। लोक आरोग्य नांदती॥
कुरुपी पाहतां नाहीं। जरा मृत्यु असेचि ना।
आदरू सकळें लोकां। सख्य प्रीति परस्परें॥
वोलणें सत्यन्यायाचें। अन्याय सहसा नसे।
अनेक वर्तती काया। एक जीव परस्परें॥
दरिद्री धुंडितां नाहीं। मूर्ख हा तो असेचि ना।
परोपकार तो मोठा। सर्वत्र लोकसंग्रहो॥
अद्भुत पिकती भूमी। वृक्ष देती सदा फळें।
अखंड दुभती धेनु। आरोग्यें वाहती जळें॥
नद्या सरोवरें बावी। डोलती नूतनें वनें।
फळती फुलती झाडें। सुगंधवन वाटिका॥
उदंड वसती ग्रामें। नगरें पुरेंचि पट्टणें।
तीर्थें क्षेत्रें नाना स्थानें। शिवालयें गोपुरें बरीं॥
मठ मढ्या पर्णशाला। ऋषि आश्रम साजिरे।
वेदशास्त्र धर्मचर्चा। रामराज्य भूमंडळीं॥'

सारांश, भगवान् राम देवोंके विश्राम और भक्तोंके आधार हैं। राम योगी-मुनियोंके ध्येय हैं और राम ही ऋषिकुलोंकी रक्षा करते हैं। रामकी कीर्ति अनुपम है। एक-वचन कहना उनका बाना है। वे एकपत्नीव्रतके आदर्श, धार्मिक हैं। रामके राज्यमें कलिका प्रवेश असम्भव है। रामराज्यमें न तो अवर्षण होता था और न अतिवर्षण। जनतामें कभी भी उद्वेग, चिन्ता और रोग न होता, वह सुखसे रहती थी। रामराज्यमें कोई

कुरूप न होता और किसीका भी अकाल जरा-मरण न होता। सभी सबका आदर करते, प्रेमसे रहते, सत्य और न्याययुक्त वचन कहते और सहसा अन्याय न होता था। काया अनेक होनेपर भी सभी जीव परस्पर एकमत हो रहते थे। खोजनेपर भी दरिद्र और मूर्ख न मिलते। सर्वत्र परोपकार और लोक-संग्रहका कार्य चलता। कृषि विपुल होती, वृक्ष सदा फलते, गायें सदा दूध देतीं, नदी, सरोवर आदि जलाशय और जल आरोग्यप्रद और प्रसन्न हो बहते, नवीन वन, वृक्ष डोलते, वाटिकाएँ सुगन्धित हो उठतीं। सभी गाँव-नगर आबाद रहते। सर्वत्र तीर्थ, क्षेत्र, शिवालय, मठ, ऋषि-आश्रम—सर्वत्र सदा धर्मचर्चाएँ होती थीं। इस तरह इस पृथ्वीपर रामराज्य सर्वोत्कृष्ट हो विराजता रहा।

ध्यान रहे कि हमारे आजके स्वराज्यको ऐसे ही गुणगणोंसे युक्त 'रामराज्य' का नाम दिया गया है। अतएव सन्त तुकारामके शब्दोंमें हम सब मिलकर कहें—

'झालें रामराज्य आतां। काय उणें आम्हांसी।'

रामराज्य हो गया, अब हमें किस बातकी कमी है।

धर्मरक्षक, मर्यादापुरुषोत्तम प्रभो रामचन्द्र! लीलामानुषरूप धारणकर आपने जिस भारत-भूमिपर सहस्रों वर्षोंतक उपर्युक्त राम-राज्य किया, आपकी ही कृपासे बहुत दिनों बाद हम पुनः वहींका यह राज्य विदेशियोंके हाथसे पा सके हैं। हमने इस नव-स्वराज्यका नाम आपके ही राज्यके नामपर 'रामराज्य' रख दिया है। अब इसका गौरव रखना आपके ही हाथमें है। दीनबन्धो! आपके दिव्य पादारविन्दोंमें हम सब यही विनम्र निवेदन करते हैं कि हमारा यह स्वराज्य सचमुच आपके राज्यके वर्णनके अनुरूप हो जाय। 'अस्माकं सन्त्वाशिषः'—हम सबको आपका आशीर्वाद प्राप्त हो।

महात्मा गांधीकी राष्ट्रभक्ति सुप्रसिद्ध है। उन्होंने सबकी जबानपर रामके स्मारकरूपमें 'रघुपति राघव राजाराम, पतित-

पावन सीताराम' का भजन बैठा दिया है। कहा जाता है कि भक्तोंमें देवताओंके गुण ही प्रकट होते हैं। श्रीरामचन्द्रके धर्ममूर्ति, मर्यादा-पुरुषोत्तम और सुधार्मिक भी नाम हैं। देवर्षि नारदने आदिकवि वाल्मीकिको 'रामराज्य' का लक्षण बताकर रामके कार्य समझाते हुए कहा है—'चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्वे स्वे कार्ये नियोक्ष्यति'— भगवान् राम भूमण्डलपर चार वर्णोंको अपने-अपने वर्ण-धर्मोंमें नियुक्त करेंगे। क्या देवताओंकी तरह उनके भक्तोंका और देवभक्तोंकी तरह ही उनके अनुयायियोंका होना आवश्यक नहीं? भारतके स्वराज्य-का नाम 'रामराज्य' सुननेके साथ किसका अन्तर दिव्य वातावरणके उन्नत विचारोंके बीच देहभान भूल आनन्दमग्न न हो उठेगा?

'स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः।
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः॥'

भगवान् रामके गुणोंका वर्णन करते हुए देवर्षि नारद बताते हैं कि माता कौशल्याके आनन्दको बढ़ानेवाले भगवान् रामचन्द्रजी सभी गुणोंसे सम्पन्न थे। वे समुद्र-से गंभीर, हिमालय-से धैर्यवान्, भगवान् विष्णु-से वीर्यवान्, चन्द्र-से प्रियदर्शन, कालाग्नि-से क्रोधी, पृथ्वी-से क्षमा-शील, कुबेर से उदार दाता और सत्यमें दूसरे धर्मराज ही थे। इन श्लोकोंका वर्णन करते हुए आदिकविने क्या विश्वके सभी मानवोंके समक्ष एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित नहीं किया?

राम जगत्की आत्मा हैं। उनका एक नाम 'आत्माराम' भी है। उनके स्मरणसे मानवोंको भक्ति, भुक्ति और मुक्ति तीनों प्राप्त होते और सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। बहुत ही कम लोग मिलेंगे जिन्होंने 'रामरक्षा' का यह श्लोक न सुना हो—

'रामेति रामभद्रेति रामचन्द्रेति वा स्मरन् ।
नरो न लिप्यते पापैर्भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति ॥'

रामरक्षा प्रायः भारतभर सर्वत्र प्रचलित है। रामनामका अधिकार सभीको समान है। पुराने जमानेमें दक्षिणमें हरिजन अपने मालिकको प्रणाम करते समय 'जोहार मायबाप' कहते, किन्तु श्रीसमर्थ रामदासजीने वह प्रथा मिटा उन्हें 'राम राम' कहनेकी सलाह दी। इस तरह उन्होंने उनके उद्धारार्थ रामनामका तारक उपदेश ही दिया। ध्यान रहे कि रामनामके उच्चारणमें जाति, आचार, शौच-अशौच किसी तरहका कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

'दास म्हणे रघुनाथाचा । गुण घ्यावा ॥'

श्रीसमर्थ सभीको लक्ष्यकर उपदेश देते हैं कि भगवान् रामचन्द्रके गुणोंका सभी अनुकरण करें, उनके स्वरूप और सद्गुणोंसे देह और अन्तःकरण भर लें।

'सदा रामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्ति ये ।
न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः ॥'

'रामोत्तरतापिनी' उपनिषद्का वचन है कि अखण्ड रूपसे अत्यन्त परिशुद्ध तात्त्विक स्वात्मरूपका ध्येय अपनी दृष्टिके सम्मुख रखकर जो 'यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति' इस वचनके अनुसार 'तत्त्वतः मैं राम ही हूँ' इस तरह अपना दृढ़ निश्चय व्यक्त करते हैं, वे कभी संसारी नहीं होते, वास्तवमें वे रामरूप ही हैं, इसमें सन्देह नहीं।

दशलक्षणात्मक धर्म

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥'

भगवान् मनुने अपनी स्मृतिके छठे अध्यायके इस ९२वें श्लोकमें सर्वसाधारणके लिए दशलक्षणोंसे युक्त सर्वसामान्य धर्म बताये हैं—(१) धृति, (२) क्षमा, (३) दम, (४) अस्तेय, (५) शौच, (६) इन्द्रियनिग्रह, (७) धी, (८) विद्या, (९) सत्य और (१०) अक्रोध। कठिन समयमें धैर्यके साथ पार पाना, सुख-दुःखमें समान रहना और किसीके लाख कहनेपर भी सन्मार्गसे न डिगना ही धृति या धैर्य है। 'वेद और धर्मपर विश्वास रखकर व्यवहार करनेसे निःसन्देह अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है' इस बातका दृढ़ निश्चय भी धृति है। अनेक बड़े लोगों द्वारा धर्मविरुद्ध व्यवहार करनेके लिए विवश करनेपर भी अपने ऐहिक और पारमार्थिक कल्याणकी दृष्टिसे प्राणपणसे धर्मकी रक्षा करना भी धृति है। इसी तरह यह किसी भी स्थितिमें निश्चय रखना भी धृति है कि 'मैं निर्विषय सुखस्वरूप हूँ, मैं निर्विकल्पक ज्ञानरूप हूँ तथा मेरी सत्ता त्रिकालाबाधित है।' दूसरेके अहितका विचार न करते हुए उसके अपराधोंको सहन करना क्षमा है। इसी तरह किसीके अकारण कष्ट देनेपर भी अन्तरमें क्षोभ न होना भी क्षमा है।

मन और इन्द्रियोंको पिघलानेवाले उत्तमोत्तम स्त्री, धन, पक्वान, वस्त्राभूषण, फल-पुष्प आदि आकर्षक वस्तुओं एवं गायन, मृदुस्पर्श, सुन्दर रूप, स्वाद, सुगंध आदि विषयोंकें सदा निकट रहते हुए भी आत्मदृष्टिका बना रहना और विकारोंका न होना ही दम है। दूसरोंकी वस्तुओंकी शरीर-वचन-मनसे इच्छा न रखना अस्तेय है। मायाकार्यकी किसी भी वस्तुके प्रति अभिलाषा न रखना भी अस्तेय है। कभी भी सत्यको छिपा न रखना भी अस्तेय है।

'अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्य निन्दितैः ।
आचारेषु व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते ।।'

देह और इन्द्रियोंको निषिद्ध कर्मोंसे शुद्ध रखना ही शौच है। पवित्र जल और मिट्टीसे इन्द्रिय एवं देहको स्वच्छ रखना भी शौच है। शास्त्रीय मार्गसे शुद्ध आचरण रखना और पवित्र प्राणी-पदार्थोंके बीच रहना शौच है। अभक्ष्यभक्षण न करना और अपवित्र प्राणी-पदार्थोंका स्पर्श न करना शौच है। सर्वथा मनको शुद्ध विचारोंसे युक्त रखना भी शौच है।

मन और इन्द्रियोंको सदैव आकृष्ट करनेवाले पदार्थोंका त्याग करना इन्द्रिय-निग्रह है। श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित अपने-अपने धर्ममार्गके प्रति दृढ़ निश्चय रखना धी या बुद्धि है। जिस विद्याके द्वारा अधिकृत आत्मरूप और निरवधि आत्मसुख प्राप्त हो वही अध्यात्म या ब्रह्मविद्या ही वास्तविक विद्या है। ब्रह्मविद्यासाधक वेदविद्या और उससे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या पर-अपर विद्याएँ हैं।

दूसरेके आत्यन्तिक हितकी दृष्टिसे शास्त्रानुसार जैसा विधान हो वैसा ही कहना सत्य है। मनमें निश्चय रखकर कि 'इस सारा स्थावर-जंगमात्मक जगत्का अपना सत्य स्वरूप निजानन्दरूप ही है', इसी भावनाको अपने और दूसरोंके बीच बढ़ानेके सभी यत्न करना तथा उसीका निरूपण करना सत्य है। जैसा दिखाई पड़े वैसा ही कहना और जैसा हो वैसा ही समझाना भी सत्य है। दूसरेकी बुराईकी प्रवृत्ति क्रोध है और शरीर-वचन-मनसे उससे बचना अक्रोध है। यदि किसीपर बिगड़नेसे अपना और दूसरोंका हित और रक्षा होती हो तो वैसी स्थितिमें स्व-परकल्याणपर दृष्टि रखकर प्रतीकारार्थ किया जानेवाला क्रोध भी अक्रोध ही कहा जायगा।

भगवान् मनु सभी मानवोंसे साग्रह निवेदन करते हैं कि वे उपर्युक्त

दस प्रकारके धर्मोंका नियमतः अनुष्ठान करें। इन धर्मोंके बीच 'विद्या' या 'आत्मज्ञान' का अत्यधिक महत्त्व है। आवरण और विक्षेपसे रहित जिस व्यक्तिमें यह आत्मनिष्ठा होती है वह सदाचरणोंसे उन्नत, विद्वान् एवं कुलीन व्यक्ति सभी दृष्टिसे सद्गुणी, आदरणीय, आश्रयणीय और अनुकरणीय होता है। अनिष्टकर असत्प्रवृत्ति मिटानेके लिए आत्मज्ञानी पुरुष ही एकमात्र रामबाण औषध है।

ज्ञानसे ही आत्मप्राप्ति

'धर्मे पृष्टे मनुर्ब्रह्म जगतः कारणं वदन्।
आत्मज्ञानं परं धर्मं विचेति व्यक्तमुक्तवान्॥'

एकत्र सम्मिलित महर्षियोंने जब 'धर्म क्या है?' यह जिज्ञासा की तो भगवान् मनुने स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि, 'ब्रह्म जगत्का मूलकारण है और उसी ब्रह्म या आत्माका ज्ञान प्राप्त कर लेना श्रेष्ठ धर्म है।'

'भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवानां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि॥'

इन शब्दोंमें भगवान् मनुसे प्रश्न करते हुए ऋषियोंने प्रार्थना की कि मुख्य वर्णों (जातियों) और उपजातियोंके जन्म, धर्म एवं कर्म हमें बतायें। वहाँ पहले ब्रह्मज्ञानका निरूपणकर उसके बाद वर्णाश्रम धर्म, उपजातियाँ और उनके धर्म-कर्म बताये गये हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पहले सभी आत्मज्ञान प्राप्त करें और फिर अपने-अपने वर्णाश्रम एवं जातिधर्मके अनुसार व्यवहार करें। इससे स्पष्ट है कि मनुका भी श्रीसमर्थके शब्दोंमें यही अभिप्राय रहा कि 'ज्ञानरहित तळमळ। जाणार नाहीं॥'—बिना ज्ञानके यह बेचैनी कभी मिट नहीं सकती।

'आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप।'
'इज्याचारदमाहिंसादानं स्वाध्यायकर्म च।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥'

महाभारत, याज्ञवल्क्यस्मृति आदिके उपर्युक्त वचन यही बताते हैं कि आत्मज्ञान ही मानवका मुख्यधर्म है। श्रीसमर्थ भी कहते हैं कि 'धर्मामाजीं मुख्य धर्म। स्वरूपीं राहणें हा स्वधर्म ॥'—सभी धर्मोंमें मुख्य स्वधर्म स्व-स्वरूपस्थिति ही है। भगवान् बादरायण भी ब्रह्मसूत्रमें लिखते हैं—'जन्माद्यस्य यतः।' अर्थात् यह चराचर विश्व जिस आनन्दरूप ब्रह्मसे आविर्भूत हुआ वही उसका मूल स्वरूप है। इन सब प्रमाणोंको देखते हुए कौन इन्कार कर सकता है कि स्व-स्वरूपमें स्थित रहना ही मानवका सच्चा स्वधर्म है।

'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।'
'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।'

गीताके इन वचनोंमें भी यहाँ एकमात्र ज्ञातव्य परब्रह्म ही बताया गया है। श्रुति भी कहती है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म इति।'

प्रस्तुत मंत्रमें ब्रह्मके स्वरूपका परिचय कराते हुए कहा गया है कि यह सारा कार्यसमूह जहाँसे निकलता, निकला हुआ समस्त प्राणिवर्ग जिसके कारण जीवन-धारण करता और समस्त दृश्य जगत्के विलयके बाद सभी जीव विश्राम पानेके लिए सुषुप्ति-अवस्थामें जिस एक स्वरूपकी शरण लेते हैं तथा आत्मज्ञानसे सभी प्राणी अन्तमें जिस सर्वतो व्याप्त अद्वितीय स्वरूपमें मिल एक हो जाते हैं वही ब्रह्म है, उसे जानो। ममतामयी श्रुतिमाताके इस उपदेशका यही अभिप्राय है।

'यल्लाभान्नापरो लाभः यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञेयं तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥'

जिसके समान और अधिक अन्य लाभ नहीं, जिसके समान और

अधिक अन्य कोई सुख नहीं तथा जिसके समान और अधिक अन्य ध्येय भी नहीं, वह ब्रह्म है, उसे जानो।

'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।'

'तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्मैव भवति स्वयम्।'

श्रुति कहती है कि श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे जो कोई 'वह ब्रह्म मैं हूँ' ऐसा निश्चयपूर्वक जानता है, वह तद्रूप हो जाता है।

'नित्यं निरुपाधिकं निरतिशयसुखं यत्स आनन्दः।'

जो अन्यसाधननिरपेक्ष, और अन्यशून्य होता है, जिससे श्रेष्ठ अन्य कुछ भी न होकर जो सबसे निरवधि श्रेष्ठ सुख है वही आनन्द कहलाता है।

'सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वा आनन्दरूपा या स्थितिः सैव सुखम्।'

सच्चिदानन्दस्वरूपके साक्षात्कारके बाद जो एक निरंकुश तृप्ति, नितान्त शान्ति और निरवधि आनन्दकी स्थिति प्राप्त होती है, उस जीवन्मुक्त स्थितिको ही 'सत्य सुख' कहा जाता है। 'नात्मलाभात्परो लाभः'–इस निजस्वरूपका लाभ ही सच्चा लाभ है। इससे बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है।

'यत्र नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति, स भूमा। भूमैव सुखम्'— देखने, सुनने, और जाननेके लिए जहाँ कुछ ही शेष नहीं रहता वही अमित, अद्वितीय सुख ही हम सबका वास्तविक रूप है।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'

श्रुति कहती है कि यह अखिल चराचर जगत् आनन्दसे ही उत्पन्न होता, आनन्दसे ही बढ़ता, पुष्ट होता और जीता है, आनन्द ही सबका वास्तविक रूप है; उस आनन्दकी ओर ही जानेके लिए सारा जगत् निकल पड़ा है और अन्तमें आनन्दमें ही जाकर मिल जाता है।

'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्'—आनन्द ही परमात्मा है, आनन्द ही ब्रह्म है और आनन्द ही हम सबका सत्य स्वरूप है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'—वह आनन्दरूप ब्रह्म सदैव स्वमात्र ही रहता है। 'स्वे महिम्नि स्वभासा'—वह आनन्दघन परमात्मस्वरूप अपनी अपार महिमासे ही अपने ही प्रकाशसे, अपने ही आप अपनेमें भरा हुआ है। 'न तु तद्द्वितीयमस्ति'—उससे अन्य कुछ है ही नहीं।

'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थम्।
नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्॥'

'वह अद्वितीय, अनन्तानन्त आनन्दरूप परमात्मा ही मैं हूँ' यह जानना ही संसारमें जानने योग्य बात है। उस परमात्माके अनुग्रहसे यह ज्ञान सभीको प्राप्त हो। सभी सत्यस्वरूप बन आनन्दघन हों। अखिल विश्वके रूपमें एक आनन्द ही आनन्द शेष रहे।

'समानीव आकूतिः। समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनः यथा वः सुसहासति।'

अर्थात् विश्वकी सभी मानव-जातियाँ हिल-मिलकर रहें, एक-हृदय और एक-मन होकर विचरें और सुख-शान्तिसे रहें। 'भद्रमस्तु वस्तमसस्पाराय'—अज्ञानसे पार होनेके लिए आप लोगोंका कल्याण हो!

'सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥'

सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी कल्याणकारी दृश्य देखें, कोई कभी दुःख न पाये!

—श्रीधर

